प्रताप नारायण मिश्र

अस्तर पर छपे मूर्तिकला के प्रतिरूप में राजा शुद्धोदन के दरबार का वह दृश्य जिसमें तीन भविष्यवक्ता भगवान बुद्ध की माँ—रानी माया के स्वप्न की व्याख्या कर रहे हैं, इसे नीचे बैठा लिपिक लिपिबद्ध कर रहा है। भारत में लेखन-कला का संभवतः सबसे प्राचीन और चित्रलिखित अभिलेख।

नागार्जुनकोण्डा, दूसरी सदी ई॰
सौजन्य : राष्ट्रीय संग्रहालय, नयी दिल्ली

भारतीय साहित्य के निर्माता

प्रताप नारायण मिश्र

रामचन्द्र तिवारी

साहित्य अकादेमी

Pratap Narayan Mishra : A monograph by Ramchandra Tiwari on the modern Hindi author. Sahitya Akademi, New Delhi (1992), Rs. 15.

प्रथम संस्करण : 1992

साहित्य अकादेमी

प्रधान कार्यालय

रवीन्द्र भवन, 35, फ़ीरोजशाह मार्ग, नयी दिल्ली 110 001
विक्रय विभाग : 'स्वाति', मन्दिर मार्ग, नयी दिल्ली 110 001

क्षेत्रीय कार्यालय

172, मुम्बई मराठी ग्रन्थ संग्रहालय मार्ग, दादर, बम्बई 400 014
जीवनतारा बिल्डिंग, चौथा तल, 23, ए/44 एक्स, डायमंड हार्बर रोड, कलकत्ता 700 053
304-305, अन्ना सलाई, तेनामपेट, मद्रास 600 018
109, जे· सी· मार्ग, बंगलौर 560 002

मूल्य : पन्द्रह रुपये

ISBN 81-7201-289-6

लेज़र-टाइपसेटिंग : अक्षरश्री, विश्वास नगर, दिल्ली 110 032
मुद्रक : संजय प्रिन्टर्स, दिल्ली 110 032

अनुक्रम

युग-धर्म

उन्नीसवी शती के प्रथम चरण में ही बंगाल अंग्रेज़ी शिक्षा के प्रभाव मे आ चुका था। वहाँ का प्रबुद्ध वर्ग आधुनिक वैज्ञानिक जीवन-दृष्टि अपनाने लगा था। विवेकशील भारतीय अपनी परम्परा को नये युग-संदर्भ में नयी अर्थवत्ता देना चाहते थे। वे नये संदर्भ में अपनी जातीय अस्मिता को प्रतिष्ठित करना चाहते थे। ऐसे ही भारतीयों के प्रतिनिधि रूप में राजा राममोहन राय का उदय हुआ। उनमें प्राचीनता और नवीनता का अद्भुत सामंजस्य था। वे अंग्रेज़ी, संस्कृत, फारसी, अरबी के अध्येता तो थे ही, यूनानी, लैटिन और हिब्रू भाषा का भी उन्हें अच्छा ज्ञान था। उन्होंने विश्व के महान् धर्मो के मूल स्रोतों से परिचय प्राप्त करके उनका तुलनात्मक अध्ययन किया था। वे भारतीयों में अंग्रेज़ी शिक्षा का प्रचार करके उन्हें सभी प्रकार की धार्मिक-सामाजिक रूढ़ियों से मुक्त करना चाहते थे। ईस्टइण्डिया कंपनी आरम्भ में परम्परागत देशी शिक्षा-पद्धति के ही पक्ष में थी किन्तु राजा राममोहनराय और उन जैसे अन्य प्रबुद्ध भारतीय अंग्रेज़ी शिक्षा के प्रचार पर बल दे रहे थे। अन्ततः पर्याप्त बहस-मुबाहिसे के बाद लार्ड मैकाले से प्रभावित होकर लार्ड विलियम बैंटिक ने 1835 ई. में अंग्रेज़ी शिक्षा को प्रचारित करने की नीति को स्वीकृति दे दी। 1837 ई. में फ़ारसी के स्थान पर अंग्रेज़ी को राज-काज की भाषा बना दिया गया। इस समय तक अंग्रेज़ी शिक्षा के प्रचार के लिए ईसाई पादरियों द्वारा विभिन्न स्थानों पर मिशन स्कूल खोले जा चुके थे। सन् 1813 ई. के चार्टर में ईसाई धर्म प्रचारकों को ज्ञान-प्रदान करने की विशेष सुविधा प्रदान कर दी गई थी। इस चार्टर की धारा 43 के अधीन उन्हें अंग्रेज़ी शिक्षा प्रचार का अधिकार प्राप्त था। उच्च शिक्षा के क्षेत्र में 'हिन्दू कॉलेज', कलकत्ता (1817 ई.) 'आगरा कॉलेज', आगरा (1818 ई.), दिल्ली कॉलेज, दिल्ली (1828 ई.), 'एलफिंस्टेन कॉलेज', बम्बई (1828 ई.) जैसी कुछ महत्त्वपूर्ण संस्थायें कार्य कर रही थीं। 1857 ई में कलकत्ता विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। लगभग इसी समय 'मद्रास' और बम्बई में भी विश्वविद्यालय खोले गए।

अंग्रेज़ी शिक्षा के प्रभाव से शिक्षित वर्ग के सोचने-समझने और अपनी सामाजिक धार्मिक मान्यताओं के बारे में राय कायम करने की पद्धति में परिवर्तन आया।

अंग्रेज़ी शिक्षा के समर्थक राजा राममोहन राय ने 1828 ई. में 'ब्रह्म समाज' की स्थापना की थी। उनका लक्ष्य नवीन जागरण के आलोक में धार्मिक अन्धविश्वासों और सामाजिक रूढ़ियों मे सुधार करना और पाश्चात्य एवं भारतीय सांस्कृतिक मानस को एक

सामान्य धरातल पर लाना था। अंग्रेज़ी शिक्षा प्राप्त युवकों की पहली पीढ़ी ने उनके विचारों का स्वागत किया। किन्तु सामान्य भारतीय मानस इसे स्वीकार नहीं कर सका। उसे उसमें ईसाइयत की बू आती थी। इस समय ईसाई उपदेशक पूरे देश में सक्रिय थे। वे व्याख्यानों, लेखों, पुस्तकों, मिशन स्कूलों तथा अन्यान्य साधनों से ईसाई धर्म की श्रेष्ठता का प्रचार कर रहे थे। 1857ई. में कम्पनी शासन के विरुद्ध प्रथम स्वतंत्रता संग्राम आरंभ हुआ। इसके तेरह वर्ष पूर्व बालकृष्ण भट्ट (1844-1914ई.) का, सात वर्ष पूर्व भारतेन्दु (1850-85ई.) का और एक वर्ष पूर्व प्रतापनारायण मिश्र (1856-94ई.) का जन्म हो चुका था। प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के पूर्व बंगाल में जो नव जागरण हुआ उसकी मूल चेतना सांस्कृतिक थी। ईसाई मिशनरियों के प्रचार और नवयुवकों तथा उपेक्षित सामान्य जनों पर उसके व्यापक प्रभाव को रोकने के लिए ही ''ब्रह्म समाज'' आगे आया था। 1833 ई. में राजा राममोहन राय (1772-1833ई.) की मृत्यु हो गई। उनके बाद श्री केशवचन्द्र सेन (1834-1884ई.) ने 'ब्रह्म समाज' के कार्य को आगे बढ़ाया। उन्होंने 1864ई. में मद्रास में ''वेद समाज'' और 1866ई. में बम्बई में ''प्रार्थना समाज'' की स्थापना की। इन समाजों में आगे चलकर महादेव गोविन्द रानाडे, सर आर.जी. भंडारकर तथा सर नारायण चन्द्रवरकर आदि महापुरुष हुए जिन्होंने सामाजिक सुधार और शिक्षा प्रचार के क्षेत्र में विशेष कार्य किया।

'ब्रह्म समाज' के बाद दूसरा शक्तिशाली धार्मिक आन्दोलन 'आर्य समाज' का था। उसका सूत्रपात स्वामी दयानन्द (1824-83ई.) ने सन् 1875ई. मे बम्बई में किया था। स्वामी जी ने वेदों को प्रमाण मानकर हिन्दू धर्म को रूढ़ियों और अन्धविश्वासों से मुक्त किया। उत्तर भारत में 'आर्य समाज' का व्यापक प्रभाव पड़ा। हिन्दू धर्म के भीतर उपेक्षित निम्न-वर्गीय जनता में आत्मविश्वास जागृत करने में उसे विशेष सफलता मिली। 'ब्रह्म समाज' और 'आर्य समाज' दोनों धार्मिक आन्दोलनों ने एकेश्वरवाद का समर्थन किया और रूढ़ियों एवं अन्धविश्वासों का खण्डन किया। किन्तु दोनों के चरित्र में मौलिक भेद था। 'ब्रह्म समाज' नैतिक आदर्शों की तात्विक एकता एवं ईश्वर के प्रति विश्वास की भावना को महत्त्व देते हुए सभी धर्मों के प्रति आदरभाव रखता है किन्तु अन्ततः किसी धर्म ग्रंथ को प्रमाण न मानकर मनुष्य के विवेक को ही सर्वोपरि मानता है किन्तु 'आर्य समाज' वेदों को ही प्रमाण मानता है। 1873ई. में पूना में 'सत्यशोधक समाज' की स्थापना हुई। इस समाज ने 'ब्रह्म समाज' और 'प्रार्थना समाज' की अनेक धार्मिक मान्यताओं— धार्मिक अन्धविश्वास, मूर्तिपूजा, तीर्थ यात्रा, आदि का विरोध, जातिगत एकता, व्यक्ति स्वातंत्र्य तथा एकेश्वरवाद में विश्वास आदि को स्वीकार किया किन्तु समाज में ब्राह्मण वर्ग के प्रभुत्व के प्रति विरोध प्रकट किया। सांस्कृतिक आन्दोलनों के इस क्रम में 'रामकृष्ण मिशन' और 'थियोसोफिकल' आन्दोलन भी उल्लेखनीय हैं। रामकृष्ण परमहंस (1834-86ई.) तथा उनके योग्य शिष्य स्वामी विवेकानन्द (1863-1902ई.) ने सर्वधर्म

समन्वय पर बल दिया; मानवमात्र में भगवान को देखा; मनुष्य की पीड़ा से द्रवीभूत हुए; अपनी संस्कृति के प्रति श्रद्धा उत्पन्न की; अद्वैत वेदान्त को नया अर्थ दिया; सत्य की एकता सिद्ध की और मनुष्य की संवेदनशीलता को जगाया। "थियोसोफिकल" आन्दोलन ने हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान पर बल दिया। इसके जनक हैनरी स्टील औलकाट स्वामी दयानन्द के निमंत्रण पर भारत आये और 1882 ई. में मद्रास में इसकी स्थापना की। 1893 ई. में श्रीमती एनीबेसेन्ट भारत आईं और उन्होंने इसके प्रचार-प्रसार में विशेष योगदान किया। इस आन्दोलन ने उन भारतीय शिक्षित युवकों में भारतीयता के प्रति विश्वास जागृत किया जो आँख मूँद कर यूरोपीय विचारकों हक्सले, मिल और स्पेन्सर का अनुसरण कर रहे थे और अपने देश के साहित्य और धर्म चिन्तन से दूर थे। इस प्रकार उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध में पूरे देश में सांस्कृतिक, सामाजिक आन्दोलनों के माध्यम से नवीन सामाजिक चेतना से युक्त नवशिक्षितो का एक विवेकशील वर्ग आधुनिक मानसिकता के साथ सामने आया। इस वर्ग ने अनुभव किया कि जीवन के सभी क्षेत्रों में अंग्रेज़ों ने भारतीयों को उनके अधिकारों से वंचित कर रखा है तथा उन के साथ अमानवीय व्यवहार किया जाता है.। इस स्थिति के कारगर विरोध के लिए पूरे राष्ट्र को संगठित करना होगा, जनता को राष्ट्रीय हितों के प्रति जागरूक करना होगा और आपसी भेद-भाव मिटाकर सभी को एक लक्ष्य की ओर अग्रसर करना होगा। इस कार्य के लिए सबसे पहले बंगाल का नव शिक्षित वर्ग आगे आया। वहाँ सन् 1851 ई. में "ब्रिटिश इंडियन एसोसियेशन" की स्थापना हुई। उसके बाद उसी वर्ष बम्बई मे "बाम्बे एसोसियेशन" की स्थापना हुई। इसी क्रम में मद्रास में सरकारी कर्मचारियों ने "मद्रास नेटिव एसोसियेशन" को जन्म दिया। सन् 1866 ई. में दादा भाई नौरोजी ने लन्दन में "ईस्ट इण्डिया एसोसियेशन" का संगठन किया और सन् 1875 ई. में पूना में "सार्वजनिक सभा" स्थापित हुई। इन सभी संगठनों का उद्देश्य सीमित था। वे स्थानीय मुद्दों को लेकर ही आगे आये थे। सन् 1876 ई. में सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी ने "भारतीय परिषद" (इण्डियन एसोसियेशन) की स्थापना की। यह परिषद् राष्ट्रीय हितों के प्रति सतर्क थी। इसके जन्मदाता इसे एक देशव्यापी राजनीतिक आन्दोलन का केन्द्र बनाना चाहते थे। इस परिषद् ने सबसे पहले "सिविल सर्विस" की परीक्षा के प्रश्न को अपना मुद्दा बनाया। 'इण्डियन सिविल सर्विस" की परीक्षा इंग्लैंड में होती थी। उसमें भारतीय भी बैठ सकते थे। भारत मंत्री लार्ड सेलिसवरी ने इस परीक्षा में बैठने की उम्र घटाकर 19 साल कर दी। यह भारतीयों को इस परीक्षा से वंचित करने की एक साजिश थी। सर सुरेद्रनाथ बैनर्जी ने 1877-78 ई. में पूरे देश का दौरा किया। उन्होंने एक स्मृति-पत्र तैयार किया। चन्दा करके धन एकत्र किया और ब्रिटिश लोक-सभा को भारतीय समस्याओं की जानकारी कराने के लिए श्री लाल मोहन घोष को विलायत भेजा। सन् 1880 ई. में लार्ड रिपन भारत का वाइसराय बनकर आया। वह धार्मिक विचारों का एक उदार व्यक्ति था। वह "भारतीय

परिषद'' के प्रस्तावों पर ध्यान देता था। उसकी प्रेरणा से उसके कानूनी सदस्य श्री पी.सी. इल्वर्ट ने न्याय-व्यवस्था के क्षेत्र में जातीय भेद-भाव मिटाने के उद्देश्य से एक विधेयक प्रस्तुत किया जो भारतीय न्यायाधीशों को यूरोपियन अपराधियों के मुकदमे सुनने का अधिकार देता था। भारत मे रहने वाले अंग्रेज़ो ने इसे अपना अपमान समझा। उन्होंने इसका संगठित विरोध किया। लार्ड रिपन को विधेयक का मूल प्रस्ताव वापिस लेना पड़ा। इस घटना से भारतीय क्षुब्ध हुए। उनमें राष्ट्रीय स्वाभिमान जागा। सन् 1883 ई. में ''भारतीय परिषद'' ने एक राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाया। इसमें अखिल भारतीय आन्दोलन आरम्भ करने की आवश्यकता पर विचार हुआ। आगे चलकर इन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ए. ओ. ह्यूम द्वारा (जो स्काटलैड निवासी थे और जिन्होंने 1880 ई. में केन्द्रीय सरकार के सेक्रेटरी पद से अवकाश ग्रहण किया था) सन् 1884 ई. में ''इण्डियन नेशनल यूनियन'' की स्थापना हुई और सन् 1885 ई. में इसी संस्था का नाम 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' कर दिया गया।

उन्नीसवीं शती के सांस्कृतिक आन्दोलनो से जुड़े प्रबुद्ध भारतीयों की गतिविधियाँ प्रारंभ में सामाजिक-धार्मिक सुधारों तक ही सीमित थीं। धीरे-धीरे उन्होंने अनुभव किया कि अंग्रेज प्रत्येक स्तर पर हमारे स्वाभिमान को ठेस पहुँचाने के साथ ही बुरी तरह हमारा शोषण भी कर रहे हैं। कम्पनी सरकार ने किसानों से ज़मीन छीन कर उस पर अपना स्वामित्व कायम कर लिया था। ज़मीन, जंगल, खाने, नदियाँ, तालाब सब सरकार के हो गए थे। वह किसानों से लगान लेती थी और लगान न मिलने पर उन्हें बेदख़ल कर देती थी। इससे किसान अपने को असहाय अनुभव करते थे। उन्नीसवीं शती के मध्य तक आते-आते भारत ब्रिटिश पूँजी के लिए निवेश का एक क्षेत्र बन गया था। रेलमार्गों तथा सिचाई नहरों के निर्माण के क्षेत्र ब्रिटिश पूँजी निवेश के प्रमुख क्षेत्र थे। अंग्रेज़ों ने तैयार माल के आयात और कच्चे माल के निर्यात को बढ़ावा दिया था। इन सभी स्रोतों से वे भारत का शोषण कर रहे थे। स्थिति इतनी भयावह हो गई थी कि अंग्रेज़ो के प्रति सहानुभूति रखने वाले केशवचन्द्र सेन को भी इंगलैण्ड की एक सभा में कहना पड़ा था—

''तुम मैनचेस्टर के लाभ के लिए और यहाँ (इंग्लैंड) की किसी जाति की समृद्धि के लिए भारत को अधिकृत नही रख सकते। ऐसा उन अत्याचारियों के फ़ायदे के लिए भी नही किया जा सकता जो भारत में जाकर स्थान-परिवर्तन करने वाले पक्षियों की तरह रहते हैं और कभी उस देश में स्थायी अभिरुचि नहीं लेते क्योंकि ऐसा वे कर ही नहीं सकते। वे दिन गए जब लोग संगीन के बल पर भारत को अधिकृत करने की बात सोचा करते थे और अब कभी आने वाले नही हैं। यदि इंग्लैड का उद्देश्य इस देश के लाखों व्यक्तियों की जातीयता को नष्ट कर इसकी दिव्य पुरातनता की आग और प्राचीन देश भक्ति के भावावेश को शमित कर इसे दलित करना है और यदि भारत पर शासन करने

में इंग्लैण्ड का उद्देश्य केवल धन कमाना है तो मैं यही कहूँगा कि ब्रिटिश राज्य को इसी क्षण ध्वस्त कर दो।''

उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में नव जागरण का आलोक हिन्दी-भाषी क्षेत्र में भी फैल गया। 1857 ई. के स्वतंत्रता संग्राम की विफलता से हमारी राष्ट्रीय चेतना कुण्ठित नहीं हुई। कम्पनी के शासन का अन्त होने पर और महारानी विक्टोरिया द्वारा शासन-सूत्र हाथ में लेने के साथ मधुर आश्वासनों से पूर्ण घोषणा-पत्र जारी करने के कारण कुछ दिनों तक हम धोखे में अवश्य रहे। कवियों ने महारानी की प्रशस्तियाँ लिखीं किन्तु शीघ्र ही मोहभंग हुआ। हिन्दी भाषी क्षेत्र में नव जागरण के अग्रदूत भारतेन्दु ने राजभक्ति की आड़ में देश-भक्ति का प्रचार किया। लोगो की सुप्त जातीय चेतना को जगाकर उन्हें अपनी गौरवपूर्ण विरासत के प्रति सचेष्ट किया। उन्होंने अपनी भाषा के प्रचार को सभी प्रकार की उन्नति का मूल माना। स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग का व्रत लिया। सारे देशवासियों को एकता के सूत्र में बाँधने की चेष्टा की। अंग्रेजों के शोषक रूप को उजागर किया और उन्हें रोग और दुष्काल दोनों का मुख्य कारण माना। साम्प्रदायिक संकीर्णता और जातीय भेद-भाव को दूर करने की चेष्टा की। समाज को कुरीतियों और अन्धविश्वासों से मुक्त करने का प्रयत्न किया। स्त्री-शिक्षा पर बल दिया। उद्योग-धन्धों के विकास का रास्ता सुझाया और अपने छोटे से जीवन में सभी प्रकार के अतिवादों के बीच से रास्ता निकालकर समाज और देश के सर्वतोमुखी विकास का मार्ग प्रशस्त करके हमें चकित कर दिया। उनके युग के साहित्यकारों ने उनका अनुगमन किया और ऐसे जीवन्त साहित्य की सृष्टि की जो आज भी हमें शक्ति और प्रेरणा दे रहा है। डॉ. रामविलास शर्मा ने ठीक ही लिखा है—''भारतेन्दु युग का साहित्य हिन्दी-भाषी जनता का जातीय साहित्य है, वह हमारे जातीय नव जागरण का साहित्य है।''

मिश्र जी को अपनी इस जातीय साहित्य की स्वस्थ परम्परा दाय के रूप में प्राप्त हुई थी। उनके युग के रचनाकारों में श्री बालकृष्ण भट्ट, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, लाला श्रीनिवासदास, बाबू कार्तिक प्रसाद खत्री, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमधन' उनसे बड़े थे और साहित्य-रचना के क्षेत्र में उनसे पहले प्रवेश कर चुके थे। 'भारतेन्दु' हिन्दी गद्य को राजा लक्ष्मणसिंह और राजा शिवप्रसाद सिंह की क्रमशः संस्कृतनिष्ठ और उर्दूपरस्त दो अतिवादी सीमाओं से मुक्त करके सामान्य जनता के लिए सहज ग्राह्य बना चुके थे। हिन्दी-कविता रीतिवादी परम्परा से मुक्त होने के लिए संघर्ष कर रही थी। उसमें राष्ट्रीय चेतना का स्पन्दन लक्षित होने लगा था। काव्य-भाषा के रूप में ब्रजभाषा का प्रचलन अभी भी था किन्तु खड़ी बोली उसकी स्पर्धा में आगे बढ़ रही थी। 'भारतेन्दु' ने सुरुचि पूर्ण, सरस, अभिनेय एवं सामाजिक यथार्थ से युक्त नाटकों की परम्परा का श्रीगणेश कर दिया था। बंगला साहित्य के प्रभाव से समाज-सुधार की चेतना से युक्त उपन्यासों की शुरूआत भी हो चुकी थी। भारतेन्दु और बालकृष्ण भट्ट सामाजिक, सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक,

राजनीतिक तथा देशभक्तिपरक निबन्ध-रचना की स्वस्थ परम्परा को जन्म दे चुके थे। 'भारतेन्दु' ने पूरे रचनाकर्म को लोकोन्मुख बनाकर उसमें नये जीवन का संचार कर दिया था। उन्होंने स्वयं आगे बढ़कर नाटकों के अभिनय के लिए हिन्दी रंगमंच की स्थापना भी की थी। उनका सबसे बड़ा काम "कविबचन सुधा" का प्रकाशन करके हिन्दी पत्रकारिता को राजनीतिक-सामाजिक आन्दोलन के केन्द्र मे प्रतिष्ठित करना था। इस प्रकार हिन्दी-साहित्य को समाज-सुधार, देश-भक्ति तथा नवीन राजनीतिक सांस्कृतिक चेतना से संश्लिष्ट करके 'भारतेन्दु' ने एक नये युग का प्रवर्तन किया था।

प्रताप नारायण मिश्र इसी भारतेन्दु-युग की विभूति हैं। उनका मानसिक विकास इसी नवजागरण-युग में हुआ था। उन्होंने युग धर्म को ठीक-ठीक पहचाना था। वे प्रत्येक समस्या को बुद्धि के प्रकाश में देखते थे। वे चाहते थे कि हम अपनी आँखें खुली रखें और विवेकपूर्वक उचित-अनुचित का निर्णय करें। वे सहृदय और उदार थे। वे धर्म को रूढ़ियों और अंधविश्वासों से सर्वथा मुक्त करके मानव-मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित करना चाहते थे। उन्हें किसी प्रकार का ढोंग पसन्द नहीं था। 'भारतेन्दु' की ही भाँति नई सामाजिक चेतना को स्वीकार करने के लिए किसी नव संगठित धार्मिक सम्प्रदाय या समाज को स्वीकार करने की आवश्यकता का अनुभव उन्होंने नही किया। उन्होंने सहज भाव से जो जीवन्त और गतिशील था, उसे स्वीकारा और जो कुण्ठित और प्रतिगामी था, उसका त्याग किया। देश की समस्याओं को सुलझाने और राष्ट्रीय स्वाभिमान की रक्षा की प्रेरणा से जब "भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस" का संगठन हुआ तो उन्होंने उसका खुलकर स्वागत किया। कांग्रेस उन्हें दुर्गा स्वरूप प्रतीत हुई। जिस सांस्कृतिक जागरण के क्रोड़ से कांग्रेस का जन्म हुआ, उसी जागरण की प्रकाश-रेखाओं से मिश्र जी का अन्तःकरण भी आलोकित था। किन्तु मिश्र जी को अपनी सांस्कृतिक विरासत ज़्यादा प्यारी थी। उन्होंने केशवचन्द्र सेन और स्वामी दयानंद सरस्वती दोनो के महत्त्व को पहचाना। दोनों की मृत्यु पर शोक प्रकट किया किन्तु न तो हिन्दू जनता के सुधार के लिए "ब्रह्म समाज" जैसी किसी संस्था की आवश्यकता का अनुभव किया न "आर्यसमाज" में सम्मिलित होने पर बल दिया। उन्होंने अपने को सभी प्रकार की संकीर्णताओं से मुक्त रखकर आजीवन एक अपराजेय योद्धा की भाँति हिन्दी, हिन्दू और हिन्दुस्तान के कल्याण के लिए संघर्ष किया। उनका रचना-कर्म इसी संघर्ष-चेतना की परिणति है।

जीवन और व्यक्तित्व

पूर्वज

अपने पूर्वजो तथा उनकी परम्परा के विषय में मिश्र जी ने स्वयं "प्रताप चरित्र" में सूचनाएं दी हैं। अतः इस सम्बन्ध में जो कुछ ज्ञात है, उसकी प्रामाणिकता का आधार यही सूचनाएं हैं। मिश्र जी के आदि पुरुष महर्षि विश्वामित्र थे। उसके बाद इस परम्परा में कात्यायन और किल इन दो महर्षियों के नाम और उल्लेखनीय हैं। शेष के विषय में मिश्र जी को कोई सूचना नहीं थी। उनके पुरखों में अनुमानतः तीन-चार सौ वर्ष पहले परमनाथ बाबा हुए थे। वे यशस्वी थे। कान्यकुब्ज प्रदेश से चलकर उन्नाव के पास बैजे गाँव (विजय ग्राम) में कौन पुरुखा कब आ बसा, इसकी कोई जानकारी मिश्र जी को नहीं थी। मिश्र जी के वृद्ध पितामह श्री सबसुख मिश्र, प्रपितामह श्री सेवकनाथ मिश्र, पितामह श्री रामदयाल मिश्र तथा पिता श्री संकटाप्रसाद मिश्र थे। वृद्ध पितामह से पहले के पूर्वजों के नाम मिश्र जी को ज्ञात नहीं थे। मिश्र जी की कुलदेवी गार्गी, इष्ट देवता शिव, कुल देवता बूढ़े बापू और कुल पुरोहित सत्य शुक्ल थे।

मिश्र जी के पितामह श्री रामदयाल मिश्र कवि थे किन्तु उनकी रचनाएं मिश्र जी को प्राप्त नहीं हो सकी थीं। इससे इतना अवश्य ज्ञात होता है कि मिश्र जी की वंश-परम्परा गौरवशालिनी थी और काव्य-संस्कार उनके रक्त में था।

जन्म

प्रताप नारायण मिश्र का जन्म आश्विन कृष्ण 9, चन्द्रवार, सं. 1913 वि. तदनुसार 24 सितम्बर 1856 ई. को हुआ था। इसमें किसी प्रकार का मतभेद नहीं है। इनके पिता पं. संकटाप्रसाद मिश्र धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। ज्योतिष का उन्हें अच्छा ज्ञान था। कानपुर में ज्योतिषी के रूप में इनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। इस सम्बन्ध में बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने लिखा है—"कानपुर जूट मिल के मैनेजर बीयर साहब उनके ज्योतिष के गुणों पर मोहित हुए थे। एक बार बीयर साहब को तार मिला कि उनकी मेम विलायत में बहुत बीमार है। साहब बहुत घबरा गए और सोचने लगे कि क्या करना चाहिए। उनके हिन्दुस्तानी क्लर्कों ने उनसे पंडित संकटाप्रसाद मिश्र की बात कही। साहब ने मिश्र जी को बुलाया और अपनी मेम की बीमारी के विषय में उनसे प्रश्न किया। मिश्र जी ने थोड़ी ही देर में उत्तर दिया कि आपकी मेम आपसे मिलने के लिए बहुत जल्द आना चाहती

है। साहब को मिश्र जी की बातों पर कुछ विश्वास न हुआ। उन्होंने समझा कि यह बात वाहियात है। पर दो ही दिन मे जब मेम उनके सामने आ खड़ी हुई तो साहब बहुत चकराये उनके आश्चर्य का कुछ ठिकाना न रहा और तब से वह मिश्र जी का बहुत आदर करने लगे।" (बालमुकुन्द गुप्त के श्रेष्ठ निबन्ध चिट्ठे और खत, पृ. 24) मिश्र जी के पिता ने पुत्र-प्राप्ति के लिए अनेक धार्मिक अनुष्ठान किए थे और यह विश्वास करते थे नारायण की कृपा से ही उन्हें पुत्र रत्न की प्राप्ति हुई है। इसी विश्वास के कारण उन्होंने इनका नाम "प्रताप नारायण" रखा था।

जन्म-स्थान

मिश्र जी के जन्म स्थान के विषय में मतभेद हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में लिखा है कि मिश्र जी के पिता उन्नाव से आकर कानपुर में बस गए थे जहां मिश्र जी का जन्म हुआ। डा सुरेशचन्द्र शुक्ल (पं. प्रताप नारायण मिश्र - जीवन और साहित्य के लेखक) ने इसी मत की पुष्टि की है। इसके विपरीत श्री नरेश चन्द्र चतुर्वेदी और डा. शान्तिप्रकाश वर्मा ने यह सिद्ध किया है कि मिश्र जी का जन्म उन्नाव जिले के बैजगांव नामक गांव में हुआ था। वहीं उनके पूर्वज रहते थे। इस सम्बन्ध में स्वयं मिश्र जी द्वारा लिखित अपूर्ण "प्रतापचरित्र" की एक पंक्ति ध्यान देने योग्य है। "हमें सोच है कि अपने बाबा की कविता नहीं प्राप्त कर सकते क्योंकि पिता जी नौ वर्ष की आयु में पितृहीन हुए, 14 वर्ष की आयु में उन्हें गाँव और घर छोड़ के कुटुम्ब पालनार्थ परदेश आना पड़ा। ऐसे कुसमय में कविता संग्रह करना कैसे संभव था।" यहाँ यह विचारणीय है कि जब मिश्र जी के पिता स्वयं 14 वर्ष की आयु में गाँव और घर छोड़कर परदेश (कानपुर) आ गए थे तो मिश्र जी का जन्म गाँव मे कैसे हुआ होगा। पत्नी को गाँव में छोड़कर अकेले कानपुर आये हों तो बात दूसरी है। मिश्र जी के कथन से यह प्रतीत होता है कि उनके पिताश्री जीविका के लिए सपरिवार कानपुर आ गए थे। इसलिए कानपुर में उनके जन्म की बात ठीक प्रतीत होती है। हाँ, गाँव से उनका सम्बन्ध अवश्य बना रहा होगा। इस मतभेद से मिश्र जी के जीवन और व्यक्तित्व के विकास संबंधी निर्णय में कोई अन्तर नहीं पड़ता। सभी विद्वान् यह स्वीकार करते हैं कि मिश्र जी के पूर्वज उन्नाव जिले के बैजगाँव के निवासी थे और उनके पिता कानपुर आकर बस गए थे। मिश्र जी का जन्म बैजगाँव में हुआ हो या न हुआ हो, उनके सांस्कृतिक मानस की रचना मे गाँव का अंश कुछ अधिक ही है। उनका रहन-सहन, वेश-भूषा, चाल-ढाल, बोली-बानी सभी में ग्रामीण जीवन की सहजता झलकती है। उनकी रचनाओं में नागरिक जीवन के परिष्कार के स्थान पर ग्रामीण जीवन का खुरदरापन अधिक है।

शिक्षा

प्रताप नारायण मिश्र को स्कूली शिक्षा अधिक नहीं मिली थी। आरम्भ में उनके पिताश्री ने उन्हें फलित ज्योतिष का ज्ञान कराना चाहा। कुछ दिनों तक मिश्र जी ''शीघ्रबोध'' और ''मुहूर्त चिन्तामणि'' रटते रहे। किन्तु शीघ्र ही उनका मन उचट गया। इसके बाद उन्हें एक अंगरेजी स्कूल में भेजा गया किन्तु वहां भी रटन्त पढ़ाई में उनका मन न लगा। अन्ततः उनका नाम ''क्राइस्ट चर्च'' स्कूल में लिखाया गया। खींचतान करके हाई स्कूल तक पहुंचे किन्तु परीक्षा मे सम्मिलित नहीं हुए। आरंभ में उन्हें संस्कृत के साथ ही फारसी-उर्दू की शिक्षा भी दी गई किन्तु जमकर किसी विषय का ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा उन्होंने कभी नहीं की। उनमें सहज प्रतिभा की कमी नहीं थी। थोड़े ही अभ्यास से वे कोई भी भाषा सीख लेते थे। इसीलिए उन्हें संस्कृत, फारसी, उर्दू, अंग्रेजी और बंगला का अच्छा ज्ञान हो गया था। मराठी और पंजाबी का भी उन्होंने अभ्यास कर लिया था। मिश्र जी ने स्कूल से अधिक जीवन के अनुभव से सीखा था। उनका लोकानुभव उनकी पूँजी थी। उनकी तर्क-शक्ति अद्‌भुत थी। अपने विवेक से वे सहज ही तत्त्व तक पहुँचकर उचित निष्कर्ष निकाल लेते थे। आधुनिक अर्थ मे उन्हें उच्च शिक्षा प्राप्त व्यक्ति नहीं कह सकते किन्तु विविध साहित्यिक, सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक विषयों में उनकी गति और समझ आज के किसी भी उच्च स्तरीय शिक्षा प्राप्त व्यक्ति से कहीं अधिक थी। उनकी रचनात्मक क्षमता तो भारतेन्दु से स्पर्धा करने वाली थी, यह उस युग के अनेक साहित्यकारों ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है।

ललिता प्रसाद त्रिवेदी ''ललित'' उनके काव्य गुरु थे। यह मल्लावां जिला हरदोई के रहने वाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे और रीति-काव्य की अच्छी समझ रखते थे। उन्होंने बलरामपुर नरेश महाराज दिग्विजयसिंह के नाम पर ''दिग्विजय विनोद'' नामक एक नायिका भेद का ग्रंथ बनाया था। महाराज से उचित पारितोषीक न मिलने के कारण यह कानपुर आ गए और गल्ले की दुकान पर मुनीमी करने लगे। मिश्रबंधुओं ने इन्हें 'तोष' की श्रेणी में रखा है। ललित कवि के अतिरिक्त मिश्र जी 'भारतेन्दु' को भी अपना गुरु मानते थे। उनमें वे अपने विचारो और आदर्शो का मूर्त-रूप देखा करते थे।

पारिवारिक जीवन

मिश्र जी का परिवार धार्मिक प्रवृत्ति का आस्तिक परिवार था। उनके पिता ज्योतिषी थे। उनकी चाची रामानुजाचार्य के वैष्णव मत की अनुयायी थीं। वे अपने पिता की अकेली सन्तान थे। उन्हें माता-पिता का भरपूर प्यार मिला था। मिश्र जी का पहला ब्याह उनके पिता जी ने उस समय कर दिया था जब उनकी आयु 18 वर्ष की थी किन्तु कुछ ही दिनों बाद उनकी पत्नी का देहावसान हो गया। पिता की मृत्यु के बाद मिश्र जी का दूसरा विवाह सूरज कुँवरि से हुआ। यह उन्नाव जिले के पुराथाना नामक गाँव के पंडित रामसहाय

शुक्ल की पुत्री थीं। इस विवाह के कुछ दिनो बाद ही मिश्र जी की माता जी भी दिवंगत हो गईं। मिश्र जी का गार्हस्थ्य जीवन कभी व्यवस्थित नहीं रहा। गार्हस्थ्य जीवन का मूल आधार अर्थ है। मिश्र जी के पास निरन्तर अर्थ की कमी रही। पिता ज्योतिषी थे और इसी विद्या के बल पर अपना काम चलाते थे। मिश्र जी ने यह विद्या पढ़ी ही नहीं। प्रारंभ मे कुछ विद्यालयों में अध्यापन किया किन्तु अपने मनमौजी और स्वच्छन्द स्वभाव के कारण वे कहीं स्थायी रूप से टिक नही सके। कालाकाँकर मे "हिन्दोस्थान" के सम्पादक मण्डल में 30 रुपये मासिक पर सन् 1888 ई में नियुक्त हुए किन्तु वहाँ भी कुल डेढ़ वर्ष तक रह सके। जीविका के लिए क्राइस्ट चर्च कॉलेज के सस्थापक श्री जी. एच. वेस्टकट को 15 रुपये मासिक पर उर्दू पढ़ाना शुरू किया किन्तु यह कार्य भी कुछ ही दिनों तक चला। मिश्र जी के पास नौघड़े में 3, 4 छोटे-छोटे मकान थे। इन्ही मकानों के किराये की आमदनी से ही किसी तरह गृहस्थी की गाड़ी खिंचती रही। घर चलाने का दायित्व मिश्र जी की पत्नी के ऊपर था। वे जो ठीक समझतीं, करती थीं। मिश्र जी का सारा जीवन अस्तव्यस्त रहा। गृहस्थी के सुचारु संचालन की उन्होने कभी चिन्ता ही नही की। वे आजीवन निस्सन्तान रहे। यह भी उनकी उदासीनता और लापरवाही का एक कारण रहा होगा। 1894 ई. में अपनी मृत्यु के लगभग एक महीने पहले उन्होंने अपने साले को गोद ले लिया। और अपनी सारी सम्पत्ति अपनी पत्नी के नाम कर दी। 21 जून सन् 1894 को कानपुर के सब रजिस्ट्रार के यहॉ मिश्र जी ने अपनी पत्नी के नाम अपनी सम्पत्ति की वसीयत की थी। वसीयत के मजमून लेखक कुरसवां (कानपुर) निवासी मुंशी रामसहाय निगम थे। मिश्र जी की मृत्यु के बाद भी उनकी पत्नी बहुत दिनों तक जीवित थीं। बाद को मिश्र जी के भाई के लड़कों ने वसीयत को लेकर कानपुर की दीवानी अदालत में एक मुकदमा कायम किया। मुकदमा वर्षों तक चला। अंत में वसीयत नियमित करार दी गई और मिश्र जी की पत्नी सम्पत्ति की मालकिन मान ली गईं।

सम्पादक जीवन

मिश्र जी का सम्पादक जीवन सच्चे अर्थो में तपस्या का जीवन था। मार्च सन् 1883 ई. से आरम्भ करके लगातार सात वर्षो तक एक अपराजेय योद्धा की भांति वे 'ब्राह्मण' को निकालते और आर्थिक कठिनाइयों से जूझते रहे। चन्दा प्राप्ति के लिए 'ब्राह्मण' में बार-बार प्रकाशित होने वाली सूचनायें साक्षी है कि किन कठिनाइयों और मुसीबतों का सामना करते हुए वे अपना दायित्व निभाते रहे । बीच में लगभग डेढ़ वर्ष तक आपने कालाकाँकर से प्रकाशित होने वाले "हिन्दोस्थान" के सम्पादक-मंडल में काम किया किन्तु उस समय भी आप 'ब्राह्मण' का सम्पादन करते रहे। 'ब्राह्मण' के प्रथम अंक में अपना उद्देश्य स्पष्ट करते हुए मिश्र जी ने लिखा था—"अंतःकरण से वास्तविक भलाई चाहते हुए सदा अपने यजमानों (ग्राहकों) का कल्याण करना ही हमारा मुख्य कर्म होगा। हम

निरे मत-मतान्तर के झगड़े की बातें कभी न करेंगे कि एक की प्रशंसा दूसरे की निन्दा हो। वरंच वुह उपदेश करेंगे जो हर प्रकार के मनुष्यों को मान्य सब देश सब काल में साध्य हो, जो किसी के भी विरुद्ध न हो। वुह चाल-ढाल व्यवहार बतावेंगे जिनसे धन, बल मान प्रतिष्ठा मे कोई बाधा न हो। कभी राज्य सम्बन्धी, कभी-कभी व्यापार सम्बन्धी विषय भी सुनावेंगे, कभी-कभी गद्य-पद्यमय काव्य, नाटक से भी रिझावेंगे। इधर-उधर के समाचार तो सदा दे ही गे।" सम्पादन के इस उद्देश्य को मिश्र जी ने बराबर सामने रखा। 'ब्राह्मण' का सिद्धान्त वाक्य था—"*शत्रोरपि गुणा वाच्या दोषावाच्या गुरोरपि*"— उसने इस न्याय-वृत्ति का परिचय देते हुए जाति, समाज, देश, भाषा, और साहित्य की निरन्तर सेवा की। उन्होंने 'ब्राह्मण' को सामान्य जनता के पत्र के रूप में प्रतिष्ठित किया। इस सम्बन्ध में डा. विजयशंकर मल्ल की टिप्पणी ध्यान देने योग्य है—"कुल मिलाकर 'ब्राह्मण' सामान्य जनता का पत्र है। उसकी मानसिक गठन और शैली शिल्प में आभिजात्य एक दम नहीं है। 'ब्राह्मण' सम्पादक समान स्तर पर खड़ा होकर पाठक से ऐसी बेतकल्लुफ और आत्मीयता से बात करता है जिसकी मिसाल नहीं।" सामान्य जन से जुड़कर भी मिश्र जी निरन्तर घाटा सहते रहे। उन्होंने 6 वर्षो में साढ़े पॉच सौ की हानि उठाई थी। उन्हें वर्ष भर मे एक-एक रुपया दे सकने वाले सौ ग्राहक या अपने इष्टमित्रों में दस-दस, पॉच-पाँच प्रतियाँ बिकवा देने वाले दस-पन्द्रह सज्जन भी नहीं मिले। अन्ततः उन्हें 'ब्राह्मण' का प्रकाशन बन्द करना पड़ा। अंतिम अंक में उन्होंने दर्द भरे स्वर में कहा था— "ग्राहक बढ़ाने और पत्र को स्थिर रखने के सब उपाय कर देखे पर अंत को यही जान पड़ा कि या तो हम देश की सेवा के योग्य नहीं हैं या देश ही हमारे गुणों को समझने की योग्यता नहीं रखता।" मिश्र जी के लिए 'ब्राह्मण' मात्र एक मासिक पत्र ही नहीं था, उसे वे अपना पाला-पोसा बच्चा समझते थे। 'ब्राह्मण' के खंड सात सं. 9 में "अवश्य देखिये" शीर्षक से उन्होंने एक अपील निकाली थी उसमें लिखा था—"हमारे कई मित्रों ने 'ब्राह्मण' के बन्द हो जाने की सूचना पढ़ के खेद प्रकाशपूर्वक पूछा है कि क्या किसी उपाय से इसे बचा सकते हो अथवा सात वर्ष के पाले-पोसे बच्चे को एक साथ ही कठोरता धारण करके विसर्जित कर दोगे"। इससे प्रकट है कि कितने दुःख के साथ और कितनी विवशता और पीड़ा का अनुभव करते हुए उन्होने 'ब्राह्मण' का प्रकाशन बन्द किया होगा। भारतेन्दु-युग के प्रायः सभी पत्रकारों ने इसी निष्ठा से सपादन-कार्य किया था। सभी को एक दूसरे से दिली हमदर्दी थी। मिश्र जी ने अपने ही समानधर्मा पत्र "प्रदीप" के लिए लिखा था—'ब्राह्मण' से दूना उसका आकार है; चौगुनी उसकी आयु है, उसके संपादक श्री बालकृष्ण भट्ट हैं, वह हमसे भी गई-बीती दशा में ठहरे। कुटुम्ब बड़ा, खर्चा बड़ा, सहायक सगा बाप भी नहीं, स्पष्ट वक्तापन के मारे जबानी दोस्त भी कोई नहीं। ऐसी हालत में सरकार ने 10 रुपये टैक्स के लिए। हम क्यों न कहें, "मरे को मारे शाह मदार।"

मिश्र जी के उपर्युक्त कथन पर टिप्पणी करते हुए डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा है "— ऊपर के उद्धरण से प्रताप नारायण मिश्र की उदारता के साथ उस समय के लेखकों और पत्र-संपादकों की स्थिति पर भी प्रकाश पड़ता है—किन कठिनाइयों से युद्ध करते हुए उन्हें साहित्य-सेवा करनी पड़ती थी। यह तपस्या नहीं थी तो तपस्या कहकर कोई वस्तु नहीं होगी। प्रताप नारायण मिश्र ने सात वर्ष इन कठिनाइयों से लड़ते हुए 'ब्राह्मण' को जीवित रखा। परिस्थितियों का विचार रते हुए उस जीवट को धन्य कहना पड़ता है।" (भारतेन्दु- युग और हिन्दी भाषा की विकास परमपरा, पृ. 85) जाहिर है कि मिश्र जी का संपादक-जीवन त्याग, तप, न्याय-निष्ठा, संघर्ष, जीवट और समर्पण का जीवन था। वे 'ब्राह्मण' के संपादक ही नहीं, जनक, पालक, पोषक और संरक्षक सभी कुछ थे।

मृत्यु

प्रताप नारायण जी प्राय· अस्वस्थ रहते थे। उन्हे बवासीर की बीमारी थी। इससे वे कभी मुक्त नहीं हो सके। खाने-पीने के प्रति लापरवाह थे। संयम का उनके जीवन मे कोई स्थान न था। परिश्रम उन्हें शक्ति से अधिक करना पड़ता था। वे क्रमशः दुर्बल होते गए। नवम्बर सन् 1885 ई. में वे बीमार हुए और कई महीने तक भीषण कष्ट भोगते रहे। 'ब्राह्मण' खण्ड 3, संख्या 12 में उन्होंने स्वयं यह सूचना प्रकाशित की थी—"हम तीन मास से ऐसे रोग से ग्रस्त हो रहे हैं कि जिसका वर्णन नही। पाठक यदि देखते तो त्राहि-त्राहि करते।" इस बीमारी के बाद वे कभी पूरी तरह स्वस्थ नहीं हो सके। सन् 1894 ई. में बीमारी ने उन्हें ऐसा जकड़ा कि वे फिर उठ नहीं सके। कानपुर के डॉ. भोलानाथ उनके प्रिय डॉ थे। उनकी दवा से उन्हें कुछ लाभ रहता था। इस बार उनके इलाज से भी कोई लाभ नही हुआ। अन्ततः आषाढ़ शुक्ल 4, शुक्रवार संवत् 1951 वि. (6 जुलाई 1894 ई.) को रात्रि दस बजे कुल 38 वर्ष की आयु में मिश्र जी की इह-लीला समाप्त हो गई। आपकी मृत्यु पर दुःख प्रकट करते हुए श्री बालकृष्ण भट्ट ने लिखा था—"नागरी हिन्दी के संकुचित समाज मे ऐसा कौन होगा जिसे कान्यकुब्ज कुलकेतु पण्डित प्रताप नारायण मिश्र का संताप न व्यापा हो। प्रातःस्मरणीय बाबू हरिश्चन्द्र को जो हिन्दी का जन्म दाता कहें तो प्रताप मिश्र को निस्सन्देह उस स्तनअन्धया दुधमुही बालिका का पालन-पोषण कर्ता कहना पड़ेगा क्योंकि हरिश्चन्द्र के उपरान्त उसे अनेक रोग दोष से सर्वथा नष्ट न हो जाने से बचा रखने वाले यही देख पड़े।" (हिन्दी गद्य के निर्माता पंडित बालकृष्ण भट्ट, पृ. 129)

भट्ट जी मिश्र जी से उम्र में बड़े थे फिर भी वे उनका सम्मान करते थे। इसी से मिश्र जी के व्यक्तित्व और प्रभाव का अनुमान लगाया जा सकता है।

व्यक्तित्व

मिश्र जी के व्यक्तित्व में विरोधों का अद्‌भुत सामञ्जस्य था। उसमें प्राचीन संस्कार और नवीन जीवन-मूल्य दोनों समाहित थे। उसमें बैसवाड़े के ठेठ गाँव का परम्परा-बोध और शहर के शिक्षित व्यक्ति का युग-बोध दोनों की द्वाभा एक साथ झलकती थी। वे दूसरे धर्मो के प्रति सहिष्णु भी थे और अपने धर्म के प्रति एकनिष्ठ भी। वे अन्य भाषाओं का आदर करते थे। उन्हें सीखने, जानने और पढ़ने का अभ्यास करते थे किन्तु हिन्दी के अनन्य सेवक थे। उनका हृदय कुसुम से भी कोमल और वज्र से भी कठोर था। वे पीड़ित और दलित को देखकर द्रवीभूत हो उठते थे किन्तु अत्याचारी और अन्यायी को देखकर उनकी भृकुटी तन जाती थी। वे अपनी धुन के पक्के थे। जो निर्णय कर लिया उस पर अडिग रहे। अन्याय के साथ समझौता करना उनके स्वभाव के विपरीत था। वे निर्भय थे। उन्होंने कभी किसी की ठकुरसुहाती नहीं की। जहाँ गुण देखा, वहाँ रीझ गए। जहाँ कपट, मिथ्याचार और पाखण्ड देखा, वहाँ तन गए। वे हद दरजे के लापरवाह किन्तु बेहद सतर्क और सजग थे। लापरवाह थे स्वास्थ्य और संपत्ति के प्रति। सजग थे 'ब्राह्मण' के संपादन और अपने लेखन के प्रति। उनकी प्रतिभा भारतेन्दु से टक्कर लेती थी। श्री बालमुकुन्द गुप्त ने उनके सम्बन्ध में लिखा है—''पंडित प्रताप नारायण मिश्र में बहुत बातें बाबू हरिश्चन्द्र की सी थीं। कितनी ही बातों में यह उनके बराबर और कितनी ही में कम थे; पर एकाध में बढ़कर भी थे। जिस गुण मे कितनी ही बार वे हरिश्चन्द्र के बराबर हो जाते थे, वह उनकी कविता शक्ति और सुन्दर भाषा लिखने की शैली थी।''

उनमें अद्‌भुत जीवट और संघर्षशीलता थी। वे अपने देश, जाति, धर्म, भाषा और साहित्य के सच्चे भक्त थे। जिसमें उन्हें ये गुण दिखाई पड़े उसके भक्त हो गए। 'भारतेन्दु' के गुणों पर वे इतने मुग्ध थे कि अपने 'ब्राह्मण' पत्र के माध्यम से हरिश्चन्द्र संवत् का प्रचार करने लगे थे। वे उन्हें अपना गुरु मानते थे और ''पूज्यपाद'' कहकर सम्बोधित करते थे। उनकी मृत्यु पर उन्होंने ''शोकाश्रु'' लिखकर अपनी व्यथा व्यक्त की थी। ''हिन्दी प्रदीप'' के संपादक श्री बालकृष्ण भट्ट के प्रति भी उनके मन में सम्मान और आदर का भाव था। मिश्र जी की विनोद-वृत्ति सर्वविदित है। वे रोतेहुओं को भी तत्काल हंसाने की क्षमता रखते थे। अपने हास्य और व्यंग्य के लिए विख्यात थे। जब कभी मेले-ठेले में जाते थे तो इक्के पर बैठकर उसे पर्दे से ढकवा लेते थे और उसके भीतर से स्त्रियों के हाव-भाव की नकल करते हुए बाहर झाँका करते थे। प्रायः बालों, मूछों, और दाढ़ी को सँवार कर सिर पर चौकोर टोपी लगाकर चौराहो पर लावनी गाते हुए निकलते थे। कहते हैं कि वे उंगलियों की तरह अपने कान भी हिलाया करते थे जिससे पास बैठे हुए लोगों का मनोरंजन होता था। अपने सामाजिक परिवेश के प्रति वे अत्यन्त संवेदनशील थे। इसी कारण वे समाज की प्रत्येक धड़कन सुन सकते थे। उनके रचनाकर्म में यह संवेदनशीलता सर्वत्र झलकती है। उनका हृदय प्रेममय था। उन्होंने अपना एक उपनाम

"प्रेमदास" रखा था। उन्हें प्रकृति से प्रेम था। पशु-पक्षियों से प्रेम था। बच्चों से प्रेम था। साहित्य, संगीत, नाटक एवं सभी प्रकार की कलात्मक चेष्टाओं से प्रेम था और सबसे अधिक अपनी विरासत से प्रेम था। वास्तविकता तो यह है कि वे समूची मानवता को प्रेम करते थे। प्रेम की इसी तरलता ने उनके व्यक्तित्व को जीवन्तता प्रदान की थी। वे स्वच्छन्द और लापरवाह अवश्य थे किन्तु यह लापरवाही छोटी-छोटी ऊपरी बातों को लेकर थी। बड़ी बातों और बड़े मूल्यों के प्रति वे सदैव सजग और सतर्क थे। ऐसा न होता तो अपनी रचनाओं और अपने संपादन-कर्म में जिस दायित्व बोध और संघर्षशीलता का परिचय उन्होंने दिया है, वह न मिलता। निश्चय ही मिश्र जी के व्यक्तित्व में 'भारतेन्दु' के व्यक्तित्व की छाया देखी जा सकती है।

कृतित्व

प्रताप नारायण मिश्र ने अपनी 38 वर्ष की अल्प आयु के बावजूद कम नहीं लिखा। प्रकाशकों द्वारा उपेक्षा, स्वयं के आलस्य, जनता की उदासीनता और साहित्यकारों की दायित्व-हीनता के कारण उनका साहित्य बहुत कुछ नष्ट हो चुका है। जो अवशिष्ट है, वह भी अभी पूर्णतः प्रकाशित नहीं हो सका है। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने सन् 1906 ई. में 'सरस्वती' में एक लेख लिखकर मिश्र जी के साहित्य की ओर हिन्दी-प्रेमियों का ध्यान आकृष्ट किया था। सन् 1919 ई. में इलाहाबाद के अभ्युदय प्रेस से मिश्र जी के निबन्धों का संग्रह ''निबन्ध नवनीत'' प्रकाशित हुआ। इसके बाद रमाकान्त त्रिपाठी ने ''प्रताप पीयूष'' (1933 ई), प्रेम नारायण टण्डन ने ''प्रताप समीक्षा'' (1933 ई.), नारायण प्रसाद अरोड़ा ने ''प्रताप लहरी'' (1949 ई.), नारायण प्रसाद अरोड़ा तथा लक्ष्मीकान्त त्रिपाठी ने ''प्रताप नारायण मिश्र'' (1947 ई.) का प्रकाशन करके इस परम्परा को आगे बढ़ाया। इन संग्रहों में ''प्रताप लहरी'' मे मात्र कविताएं संगृहीत हैं। ''प्रताप पीयूष'' में लेख और कविताएँ दोनों है। शेष सभी में निबन्ध संगृहीत हैं। 'नागरी-प्रचारिणी-सभा' काशी, ने दो खण्डों में ''प्रताप नारायण ग्रंथावली'' के प्रकाशन का निश्चय किया और श्री विजयशंकर मल्ल को इसके संपादन का दायित्व सौंपा। मल्ल जी ने यह कार्य पूरा भी कर लिया किन्तु दुर्भाग्यवश अभी तक इसका प्रथम भाग (1958 ई.) ही प्रकाशित हो सका है। इधर श्री नरेशचन्द्र चतुर्वेदी द्वारा संपादित कविताओ का एक संग्रह ''प्रताप नारायण मिश्र कवितावली'' (1987 ई.) प्रकाशित करके 'हिन्द-साहित्य-सममेलन', प्रयाग ने प्रशंसनीय कार्य किया है। इस दिशा में अभी भी संघटित प्रयास की आवश्यकता है।

मिश्र जी के समग्र साहित्य को मुख्यत दो वर्गों में रखा जा सकता है (क) मौलिक (ख) अनूदित।

मौलिक साहित्य के अन्तर्गत कविताएँ, नाटक, और निबन्ध आते हैं। अनूदित साहित्य के अन्तर्गत उपन्यास, कहानियॉ और जीवनियॉ आती है। अनुवाद उन्होंने मुख्यतः बँगला भाषा से किया है। उनके द्वारा किए गए बंकिमचन्द्र के सात उपन्यासों—अमरसिंह, इन्दिरा, कपालकुण्डला, देवी चौधरानी, युगलांगुलीय, रामसिंह और राधारानी—के अनुवाद प्राप्त हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने बच्चों को दृष्टि में रखकर कुछ लघु बंगला कहानियों के पद्यानुवाद, कुछ बंगाली महापुरुषों की जीवनियाँ और ईश्वरचन्द्र विद्यासागर द्वारा बच्चों के लिए लिखी गई कहानियों के अनुवाद भी किए थे।

मिश्र जी ने ज्ञान का साहित्य भी लिखा है। इसके भी दो वर्ग हैं। मौलिक और अनूदित। मौलिक ज्ञान-साहित्य के अन्तर्गत धर्म, शिक्षा एवं स्वास्थ्य-विद्या सम्बन्धी रचनाएँ है। उनके द्वारा अनूदित ज्ञान के साहित्य का सम्बन्ध इतिहास, भूगोल, धर्म, नीति, चरित-चर्चा, एव शिशु-शिक्षा आदि कई विषयों से है। मिश्र जी ने अन्य कवियों की रचनाओं

के कुछ संग्रह भी किए थे। इनमें "मानस विनोद", "रसखानि शतक", "रहिमन शतक" और "सतीचरित्र" की सूचना मिलती है। उन्होने "प्रताप चरित्र" शीर्षक से आत्म-कथा लिखना आरंभ किया था किन्तु यह अधूरी रह गयी। इसमें मात्र उनके पूर्वजों का वृत्त ही आ सका है। उनकी एक रचना "रामायण रमण" है। इसमें उन्होंने वाल्मीकि और तुलसीदास की कृतियों से भगवान राम के चरित्र के आदर्श प्रसंगों का संचयन किया है। इसकी भी अपूर्ण प्रति ही प्राप्त हुई है। यहाँ हम मिश्र जी के मौलिक रचनात्मक साहित्य का संक्षिप्त परिचय देना चाहेगे।

कविताएँ

श्री नरेशचन्द्र चतुर्वेदी द्वारा सपादित "प्रताप नारायण मिश्र कवितावली" में मिश्र जी की छोटी-बड़ी कुल 197 कविताएँ संगृहीत हैं। इनके सम्बन्ध में उनका कथन है— "इस सकलन के पूर्व भी 'प्रतापलहरी' नाम से पण्डित प्रताप नारायण मिश्र की कविताओं का एक संकलन प्रकाशित हुआ था। उसमें उस समय तक की प्राप्त रचनाएँ ही संकलित हो पाई थी। अनेक रचनाएँ उसमें ऐसी भी संकलित हो गई थीं जो भ्रमवश मिश्र जी की रचनाएँ समझी जाती रही है, पर उनके लेखक अन्य कवि थे। तथ्यात्मक स्थिति स्पष्ट होने पर ऐसी रचनाओं को इस संकलन से पृथक् कर दिया गया है और उनकी जो अन्य रचनाएँ यत्र-तत्र प्राप्त हुई हैं, उनका यथास्थिति पता लगाकर, इसमें संगृहीत कर दिया गया है। प्राचीन साहित्य के सम्यक् संरक्षण के अभाव मे इस प्रकार की स्थिति का उत्पन्न होना स्वाभाविक है।" (प्रताप नारायण मिश्र कवितावली, भूमिका, पृ. 31) चतुर्वेदी जी ने यह नहीं बताया कि जिन कविताओ को भ्रमवश मिश्र जी की कविताओं में संगृहीत कर लिया गया था वे किन कवियों की रचनाएँ थीं? और उन्हें मिश्र जी की कवितायें समझने का भ्रम क्यों हुआ? मिश्र जी की भाषा और शैली अनुकरणीय नही है। उनकी कविताओं में ऐसे-वैसे कवियो की रचनाएँ नहीं मिल सकतीं। चतुर्वेदी जी ने जिन कविताओं को स्वसंपादित "कवितावली" में स्थान नहीं दिया उनकी सूची भी नहीं दी है। "कवितावली" में मिश्र जी की सभी कवितायें संकलित कर ली गई हैं, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। श्री बालमुकुन्द गुप्त ने हिन्दी रचनाओ के अतिरिक्त उनके एक 'उर्दू-फारसी के दीवान' की सूचना देते हुए लिखा है—"मिश्र जी का उर्दू और फारसी का दीवान भी है। मालूम नहीं और किसी के पास उसकी नकल है या नहीं। इस समय तो वह अलभ्य हो गया है।" (बाबू बालमुकुन्द गुप्त के श्रेष्ठ निबन्ध, चिट्ठे और खत पृ. 67) जाहिर है कि उपर्युक्त दीवान मे संकलित उर्दू-फारसी की कवितायें अलभ्य होने के कारण संकलित नहीं हो सकी होंगी। मिश्र बंधुओं ने मिश्र जी की एक रचना "शृंगार विलास" का उल्लेख किया है। "कवितावली" में शृंगार रस की मुश्किल से दो-तीन कविताएँ मिलेंगी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी उनके सम्बन्ध में लिखा है—"पंडित प्रताप नारायण

जी भी समस्यापूर्ति और पुराने ढंग की शृंगारी कविता बहुत अच्छी करते थे। कानपुर के ''रसिक समाज'' में वे बड़े उत्साह से अपनी पूर्तियाँ सुनाया करते थे।'' (हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ. 581) इसके बाद शुक्ल जी ने ''पपीहा जब पूछिहै पीव कहाँ'' इस समस्या की पूर्ति करने वाला मिश्र जी का अत्यन्त सरस छन्द उद्धृत किया है। ''कवितावली'' में यह छन्द भी नहीं है। ऐसा लगता है कि ''कवितावली'' में शृंगारी कवितओं को सगृहीत नहीं किया गया है। उनकी प्रसिद्ध कविता ''अरे बुढ़ापा'' भी ''कवितावली'' में नहीं है। यही स्थिति उनकी अनेक बार अनेक समीक्षकों द्वारा उद्धृत कविता ''कानपुर माहात्म्य'' की भी है। फिर भी इसमें सदेह नहीं कि ''कवितावली'' मिश्र जी की अब तक संगृहीत कविताओं का सबसे बड़ा संग्रह है। इसमें छन्द, भाषा, और विषय तीनों दृष्टियों से वैविध्य, लक्षित होता है। मिश्र जी ने दोहा, चौपाई, पद, गज़ल, लावनी, हरिगीतिका, आल्हा, कसीदा, विधाता, कितना, मुसल्लस, मरसिया, कजरी, दादरा, होली, कुण्डलिया, कवित्त आदि अनेक छन्दों का प्रयोग किया है। इसी प्रकार भाषा की दृष्टि से ब्रजभाषा, खड़ी बोली, उर्दू, फारसी, संस्कृत, कानपुरी, अवधी आदि अनेक भाषाओं की छटा उनकी कविताओं में देखी जा सकती है। कविताओ के विषय भी अनेक हैं। कही देश, जाति, धर्म की रक्षा के लिए प्रभु से प्रार्थना की गई है; कहीं अंधविश्वास, धार्मिक संकीर्णता और जातिगत भेद-भाव पर व्यंग्य किया गया है; कहीं अंग्रेज़ों के शासन में बढ़ती हुई बेरोजगारी और गरीबी का रोना रोया गया है; कहीं अंग्रेज़ी राज मे कुरीतियों और कुप्रथाओं के छद्म पोषण का पर्दाफाश किया गया है; कहीं आदर्श देश भक्तों और उदार अंग्रेज़ अधिकारियों की प्रशंसा की गई है। कहीं अतीत के वैभव और वर्तमान दुर्दशा का अन्तर लक्षित करते हुए दुर्भाग्य का रोना रोया गया है। ''कजरी'', ''दादरा'' और ''होरी'' के कुछ छन्दों में ''शृंगार रस'' के सरस चित्र भी हैं, किन्तु इनकी संख्या अधिक नहीं है। कहीं-कहीं प्रकृति के सौन्दर्य का चित्रण भी है किन्तु कवि का केन्द्रीय लक्ष्य देश के नैतिक-सांस्कृतिक पतन और आर्थिक दुर्दशा का यथार्थ चित्रण करना ही है। श्री नरेशचन्द्र चतुर्वेदी ने ठीक ही लिखा है कि ''प्रताप नारायण मिश्र की कविता एक प्रकार से उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के उत्तर भारतीय समाज के आर्थिक, सामाजिक, और राजनीतिक जीवन का इतिहास है।'' (कवितावली, भूमिका, पृ. 29) मिश्र जी की बहुसंख्यक कविता सामाजिक विषयों पर ही लिखी गई हैं। इस दृष्टि से उनका महत्त्व ऐतिहासिक ही है किन्तु ''ब्रैडला स्वागत'' का यथार्थ, ''तृप्यन्ताम्'' का व्यंग्य, 'कजरी', 'होरी' तथा 'दादरा' की जीवन्तता और लोक-सम्पृक्ति, 'कसीदा' की भावुकता, ''शोकाश्रु'' की करुणा, ''मन की लहर'' की मस्ती तथा ''लावनी'' की जिन्दादिली आज भी पाठकों को प्रभावित करती है, उनके मन को छूती है और यह प्रमाणित करती है कि मिश्र जी सच्चे कवि थे।

निबन्ध

मिश्र जी की मौलिक रचनाओं में सबसे महत्त्वपूर्ण उनके निबन्ध हैं। भारतेन्दु-युग के वे श्रेष्ठ आत्मव्यंजक निबन्धकार हैं। ''प्रताप नारायण ग्रंथावली'', प्रथम खण्ड में ''सुचाल शिक्षा'' को छोड़कर कुल 190 निबन्ध संगृहीत है। इसके संपादक श्री विजयशंकर मल्ल के साक्ष्य पर ही कहा जा सकता है कि अभी भी बहुत से निबन्ध प्रकाशित नहीं हो सके हैं। मल्ल जी ने आरम्भिक वक्तव्य में लिखा है—''कुछ लेख बच रहे है, उनकी प्रतिलिपि समय से सुलभ न हो सकी। अतः इस बार उनका प्रकाशन न हो सका।'' इसी क्रम में उन्होंने लिखा है— '' हिन्दुस्तान' के अपने संपादन-काल में भी मिश्र जी ने कुछ लिखा होगा। ऐसी रचनाओं को प्राप्त करने का कोई साधन सुलभ न हो सका।'' इससे जाहिर है कि कविताओं की भाँति मिश्र जी के निबन्ध भी अभी इधर-उधर बिखरे हुए है। फिर भी जितने निबन्ध प्रकाशित होकर सामने आए हैं, निबन्ध-लेखक के रूप में मिश्र जी के वैशिष्ट्य और महत्त्व को उजागर करने के लिए पर्याप्त हैं। वे जीवन के किसी भी पक्ष से विषय चुन लेते हैं और उसके बहाने जो कहना चाहते है कह लेते हैं। कभी उन्होंने ''ट'', ''त'', ''द'' जैसे अक्षरों को विषय बनाया है, कभी ''दाँत'', ''भौं'', ''पेट'', ''मुच्छ'' जैसे शारीरिक अंगों को। कभी वे ''चिन्ता'', ''स्वतन्त्रता'', ''ममता'', ''मनोयोग'', ''निर्लिप्तता'', ''आत्मीयता'', 'संलग्नता'' जैसे भावों पर विचार करते हैं तो कभी ''सत्य'', ''स्वार्थ'', ''खुशामद'', ''धोखा'' जैसे नैतिक विषयों पर। कभी ''गोरक्षा'', ''दशावतार'', ''नास्तिक'', ''ईश्वर की मूर्ति'', ''मूर्ति पूजकों की महौषध'', ''नवपंथी और सनातनाचारी'', ''पादरी साहब का व्यर्थ यत्न'', जैसे धार्मिक विषयों पर उनकी दृष्टि जाती है तो कभी ''टेढ जानि शंका सब काहू'', ''कलि महं केवल नाम प्रभाऊ'', ''ऊँच निवास नीच करतूती'', जैसी साहित्यिक सूक्तियों पर। संस्कृत की सुक्तियों—''मुनीनां च मतिभ्रमः'', ''प्रेम एव परोधर्मः'', ''अहह कष्टमपंडितताविधेः'', ''मूलन्नास्तिकुतः शाखा'' और लोक-प्रचलित कहावतों—''समझदार की मौत है'', ''सबै सहायक सबल के'', ''फूटी सहें आँजी न सहैं'', ''घूरे के लत्ता बीनै कनातन का डौल बाँधे'', ''मरे का मारैं साहमदार'', ''एकै साधे सब सधै'' ''अष्ट कपारी दारिद्री जहाँ जायँ तहँ सिद्धि'', ''लड़ते हैं और हाथ में तलवार भी नहीं''— को विषय बनाकर मनोरंजक शैली मे अपनी बात कहना तो उनके बायें हाथ का खेल है। उन्होंने सीधे-सीधे सामाजिक और आर्थिक विषयों ''देशी कपड़ा'', इनकम टैक्स'', ''मिडिल क्लास'' ''ग्रामों के साथ हमारा कर्तव्य'', ''बाल्य विवाह'', ''अपव्यय'', ''विलायत यात्रा'', ''रिश्वत'' आदि पर भी विचार किया है। इतना वैविध्य उनके समकालीन किसी अन्य लेखक में नहीं मिलता।

मिश्र जी की निबन्ध-शैली निजी और मौलिक है। निबन्धों के शीर्षक, आकार प्रकार, तथा विषय प्रतिपादन का ढंग सभी कुछ मिश्र जी के व्यक्तित्व के अनुकूल है। शीर्षक कोई हो, मिश्र जी तात्विक बात कहने के लिए अवसर निकाल लेते हैं। उदाहरण

के लिए ''ट'' शीर्षक निबन्ध लीजिए। शीर्षक देखकर यह कल्पना भी नहीं की जा सकती कि इसमें कोई देश या समाज हित की बात होगी। मिश्र जी ने ''ट'' का सम्बन्ध 'टकार' बहुला अंग्रेज़ी भाषा और अंग्रेज़ जाति से जोड़कर लिखा—''क्यों न हो, जिनके यहाँ बात-बात मे ''टकार'' भरी है, उनका सर्वदा सर्वभावे सब किसी का सब कुछ डकार जाना क्या आश्चर्य है। नीति इसी का नाम है। 'टकार' का यही गुण है कि जब सारी लक्ष्मी विलायत ढो ले गए तब भारतीय लोगों की कुछ-कुछ आँखें खुली हैं।'' (ग्रंथावली, पृ 187) इसी प्रकार ''दो'' शीर्षक निबन्ध मे ''दो'' का सम्बन्ध अलगाव या विरोध से जोड़कर वे लिखते हैं—''भारत का इतिहास भी यही सिखलाता है कि कौरव-पाण्डव दो हो गए अर्थात् एक दूसरे के विरुद्ध हो गए इसी से यहाँ की विद्या, वीरता, धन, बल सब में घुन लग गया। एक ही रहते तो सारा महाभारत इति श्री था। अंत में पृथ्वीराज, जयचन्द दो हो गए इससे रहा सहा सभी कुछ स्वाहा हो गया। यदि अब भी जहाँ-जहाँ दो देखिए वहाँ-वहॉ सच्चे जी से एक बनाने का प्रयत्न करते रहिए तो दो के साथ ही सारे दोष, दुर्भाव, दुख दूर हो जायँगे।'' (ग्रंथावली, पृ. 348) ''त'' शीर्षक निबन्ध में यह प्रतिपादित करने के बाद कि ''जितने शब्दों मे ''तकार'' का योग होगा वे अवश्य पारे लगेंगे वे तकार-युक्त अनेक शब्दों का उदाहरण देकर उनकी श्रेष्ठता सिद्ध करते है और अंत में लिखते हैं—''अत· अपने रसिकों को केवल इतनी सम्मति देते है कि जैसे बने वैसे अपने देश, जाति, भाषा आदि के हित में नित्य दत्तचित्त रहा करें तथा दिन-रात एतद्विषयक सभा कमेटियो में उत्साह के साथ कृत्य करने को तत्पर रहें। 'नेशनल कांग्रेस' ऐसी सभाओं की ताज है और सत्य के प्रताप से प्रतिवर्ष उसकी वृद्धि होती रहती है। इसका अधिवेशन अब की साल बम्बई में होगा। अतएव सब देश-हित के तत्त्ववेत्ताओं को चाहिए कि अभी से उसकी चिन्ता में लगे रहें जिसमें समय पर हर ओर से डेलीगेटों का ताँता बँध जाय। हे तात नरतन का कर्तव्य यही है।'' (ग्रंथावली, पृ. 290) यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि इस अंतिम सम्मति में भी तकार-बहुल शब्दों—इतनी, सम्मति, हित, नित्य, दत्तचित्त, एतद्, कृत्य, तत्पर, ताज, सत्य, प्रताप, प्रतिवर्ष, तत्त्ववेत्ता, चिन्ता, ताँता, तात—का प्रयोग करके मिश्र जी ने अपनी बात को सार्थक प्रमाणित किया है। तात्पर्य यह है कि किसी भी शीर्षक को लेकर अपने ढंग से सोचते-विचारते, प्रश्न करते, तर्क देते, पाठकों को समझाते-बुझाते, रिझाते-हँसाते, अन्ततः मिश्र जी देशहित, समाज-सुधार, साम्प्रदायिक सदभाव, कुरीति-त्याग, स्वदेशी वस्तुओं के प्रचार, स्त्री-शिक्षा, उद्योग-धंधों के विकास एवं आत्मनिर्भरता की बात पर आ जाते हैं। निश्चय ही मिश्र जी ने इन निबन्धों की रचना ''ब्राह्मण'' के पृष्ठों को भरने के लिए की है किन्तु उन्होंने कहीं भी भरती का एक पैराग्राफ भी नहीं लिखा है। निबन्ध छोटे हों या बड़े, एक पृष्ठ के हों या दस पृष्ठों के उनमें आदि से अन्त तक पाठकों को अपने साथ लेकर चलते हुए वे अंत में जिस जगह छोड़ते हैं वह देश, जाति, समाज, भाषा और साहित्य के विकास और कल्याण की जगह है।

निबन्धों की कोटि में ही मिश्र जी के "सुचाल शिक्षा" में क्रमबद्ध रूप से दिए गए बीस पाठों को रखा जा सकता है। पढ़ना गुनना, नित्य कर्म, साधारण व्यवहार, समय पर दृष्टि, अवकाश के कर्तव्य, मनोयोग, निर्लिप्तता, मिताचरण, लोक लज्जा, निजत्व, आत्मगौरव, आत्मीयता, अन्तरात्मा का अनुसरण, संगति का विचार, संलग्नता, आत्मनिर्भर, अर्थशुद्धि, सत्वसंरक्षण, आस्तिकता, कर्तव्यपालन, इन पाठों को हम नैतिक जीवन से सम्बद्ध बीस निबन्ध मान सकते हैं। इक्कीसवें पाठ में 50 स्मरणीय वाक्य संकलित है। मिश्र जी ने नवयुवकों को आचरण की शिक्षा देने के लिए इनकी रचना की है। ये पाठ अत्यन्त संयमित शैली मे लिखे गए है। इनकी भाषा भी अपेक्षाकृत तत्सम प्रधान और मर्यादित है।

नाटक

'भारतेन्दु' जी की भाँति प्रताप नारायण मिश्र ने भी नाटकों की रचना में विशेष रुचि दिखाई थी। वे स्वयं अभिनय भी करते थे और मंच की बारीकियों से परिचित थे। उनके द्वारा रचित "हठी हम्मीर" (1887 ई), "कलिकौतुक रूपक (1889 ई.), "संगीत शाकुन्तल" (1891 ई.), "भारत दुर्दशा रूपक" (1902 ई.), "कलिप्रवेश" (1887 ई.), "जुआरी-खुआरी" (1883 ई.), तथा "दूध का दूध, पानी का पानी" (1883 ई.) नाटक प्रामाणिक माने गए हैं। इनके अतिरिक्त मिश्र बंधु, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा डॉ. दशरथ ओझा ने इनके एक अन्य नाटक "गोसंकट" का भी उल्लेख किया है किन्तु "प्रताप नारायण मिश्र की हिन्दी गद्य को देन " शीर्षक-प्रबन्ध के लेखक डॉ. शान्तिप्रकाश वर्मा के अनुसार "गोसंकट" नाटक श्री अम्बिकादत्त व्यास की रचना है। (प्रताप नारायण मिश्र की हिन्दी गद्य को देन (पृ 83) "हठी हमीर" ऐतिहासिक नाटक है। इसमें अलाउद्दीन उसकी मरहट्ठी बेगम, मीर मुहम्मद तथा रणथम्भौर के वीर राजा हम्मीर को लेकर कथा-रचना की गई है। अलाउद्दीन का एक वीर सैनिक मीर मुहम्मद उसकी मरहट्ठी बेगम को प्यार करने लगता है। भेद खुल जाने पर अलाउद्दीन उसे बंदी बनाना चाहता है। मीर मुहम्मद रणथम्भौर के राजा हम्मीर की शरण में जाता है। शरणागत की रक्षा अपना धर्म मानकर हम्मीर उसे अलाउद्दीन के पास भेजना अस्वीकार कर देता है। अलाउद्दीन आक्रमण करता है। युद्ध के दौरान मीर मुहम्मद अलाउद्दीन द्वारा पकड़ लिया जाता है। युद्ध चलता है। मुसलमानों के पैर उखड़ जाते हैं। इसी बीच जोर की हवा चलती है और राणा की रणध्वजा गिर जाती है। किले से रणध्वजा का गिरना देखकर रानियाँ समझती हैं कि राजा मारे गए। वे जौहर करती हैं। युद्ध जीत कर जब राजा किले में आते हैं तो देखते है कि सभी रानियाँ जल कर मर गई हैं। वे विरक्त होकर तपस्या करने चले जाते हैं। तप करते हुए राजा भावलोक में ज्योतिर्लिंग का दर्शन करते हैं और अपने प्राण त्याग देते हैं। स्वर्ग में नारद, शिव आदि देवता राजा की प्रशंसा करते हैं। नाटक का यह अंतिम दृश्य काल्पनिक

है। नाटक की रचना का उद्देश्य इतिहास के एक प्रख्यात धीरोदात्त पात्र के उज्जवल चरित्र को सामने रखकर पाठकों में जातीय गौरव की भावना का संचार करना है। **"कलिकौतुक रूपक"** में तत्कालीन समाज का यथार्थ चित्र अंकित है। इसमें शहर के धनी व्यक्तियों द्वारा धर्म की आड़ में किए जाने वाले व्यभिचार, मंदिर के पुजारियों की बगुलाभक्ति, शहरी गुण्डों की लम्पटता, धनी रईसों की स्त्रियों का पर-पुरुष-प्रेम, संतानहीन रईस के दत्तक पुत्र की आवारागर्दी, नई शिक्षा प्राप्त युवकों का अंग्रेजी सभ्यता के प्रति मोह तथा समझदार और विवेकशील शिक्षित व्यक्तियों की देशभक्ति, सभी कुछ दिखाया गया है। इसके सम्बन्ध में डॉ. रामविलास शर्मा की टिप्पणी है—"यह एक यथार्थवादी नाटक है। और इसके पात्र उस समय के समाज से लिए गए हैं। मुंशी शंकर लाल एक उर्दू-भक्त है, बाबू मायादास नयी अंग्रेजी सभ्यता के गुलाम हैं, प्रेमचन्द एक सच्चा देशभक्त है, कैंचासिंह एक कनपुरिया गुण्डा है। भुशुण्डीदास एक बगुला भगत है और पंडित चण्डीदत्त एक "बिगडैल दिहाती" हैं। कथा का नायक एक धनवान किशोरी दास है। जैसा वह धनी है वैसा ही दुश्चरित्र है और जैसे वह स्वयं दुश्चरित्र है, वैसे ही उसके घर में भी दुश्चरित्रता का वास है।" (भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परम्परा पृ. 59) इन नाटक की एक विशेषता यह है कि इसमें दुश्चरित्र और लम्पट पात्रों की अन्त में घोर दुर्दशा दिखाई गई है।

कलि प्रवेश

इसका विषय भी वही है जो "कलिकौतुक" का। इसे श्री मिश्र जी ने "गीत रूपक" शैली में लिखा है। इसमें नारी जीवन की विकृतियों को विशेष रूप से उजागर किया गया है।

संगीत शाकुन्तल

यह नाटक कालिदास के "अभिज्ञान शाकुन्तलम्" को आधार बनाकर लिखा गया है। मिश्र जी ने इसकी रचना हिन्दी में "गीत रूपक" नाटकों के अभाव की पूर्ति के लिए की है। इसमें जनगीतों का समावेश करके उन्होंने इसे लोक-रुचि के अनुकूल बनाने की चेष्टा की है। कथा के मूल ढांचे में कोई परिवर्तन नहीं किया गया है। 'नान्दी', 'प्रस्तावना' और 'भरतवाक्य' का प्रयोग भी मिश्र जी ने किया है। केवल दृश्य-विभाजन में उन्होंने कुछ छूट अवश्य ली है। डॉ. रामविलास शर्मा के अनुसार "इसका ढांचा न संस्कृत नाटकों का है, न अंग्रजी नाटकों का, यह नौटंकी का एक विशुद्ध रूप है।"

भारत दुर्दशा रूपक

यह भारतेन्दु कृत "भारत दुर्दशा" के अनुकरण पर लिखा गया है। इसका नायक "भारत" है। "विद्या" उसकी पत्नी है। 'कलियुग' भारत पर आक्रमण करता है। भारत

उसका प्रतिरोध करता है। भारत युद्ध में पराजित होकर मूर्च्छित हो जाता है। युवा वर्ग 'विद्या' का तिरस्कार करके 'आलस्य' की ओर आकृष्ट होता है। मूर्च्छित भारत को पंडित, एडीटर, ब्रह्मसमाजी, बंगाली, आर्यसमाजी, महाराष्ट्री, पंजाबी, ईसाई, मुसलमान सभी जगाने का प्रयत्न करते हैं। भारत के उपचार की चेष्टा में आर्थिक कठिनाई आड़े आती है। जगाने का प्रयत्न करने वाले दो पक्षों में बँट जाते हैं। कलियुग, बंगाली, पंजाबी और मुसलमान को बन्दी बना लेता है। एडीटर, पंडित, महाराष्ट्री छिप जाते हैं। पारस्परिक फूट और अर्थ का अभाव भारत की दुर्दशा का कारण बनता है। यह नाटक एक प्रकार से प्रतीकात्मक है। इसमें भाषा पात्रों के अनुकूल रखी गई है। महाराष्ट्री, बंगाली, पंजाबी, सब अपनी-अपनी भाषा का प्रयोग करते हैं। ईसाई ने अंग्रेजी मिश्रित खड़ी बोली और मुसलमान ने खालिस उर्दू का प्रयोग किया है। भाषा-वैविध्य के कारण इस नाटक के अभिनय में तो कठिनाई होगी ही, दर्शकों को असुविधा भी होगी। नाटक का लक्ष्य भारत की वास्तविक स्थिति का चित्रण है। भारत मूर्च्छित है। कलियुग (जो सभी प्रकार की बुराइयों की समष्टि है) का प्रभाव बढ़ रहा है। लोग विद्या से विमुख हो रहे हैं। युवक आलसी हो रहे हैं। देश में आर्थिक विपन्नता है। अंग्रेज़ों ने सभी प्रकार के देशी उद्योग-धंधों को नष्ट कर दिया है। जिन पर भारत को जगाने और उसको दुर्दशा-मुक्त करने का दायित्व है, उनमें सहमति नहीं है। जितने लोग उतने मत। लोगों को पुरुषार्थ पर विश्वास नहीं रह गया है। इसी वास्तविकता को मिश्र जी ने प्रतीकात्मक शैली में व्यक्त किया है।

जुआरी-खुआरी

यह एक प्रहसन है। यह अपूर्ण है। नाम से ऐसा लगता है कि इसमें जुए से होने वाली तबाही का चित्रण किया जाता किन्तु अपूर्ण रह जाने से इसका अनुमान ही किया जा सकता है। इसमें चार जुआ खेलने वाले सेठ पं. लक्ष्मीदास जी के पास जाकर उनसे जुआ खेलने के लिए शुभ मुहूर्त निकालने का आग्रह करते हैं। पंडित जी मूहूर्त निकालने के पहले पचास रुपये की दक्षिणा माँगते हैं। सेठ जी दक्षिणा देना स्वीकार कर लेते हैं और मुहूर्त निकालने के लिए प्रार्थना करते हैं। इसकी भाषा भी पात्रों के स्वभाव, जाति और व्यक्तित्व के अनुकूल है। बुरे कार्यों के लिए भी मुहूर्त निकलवाने की प्रवृत्ति स्वयं उपहासास्पद है। फिर भी समाज में ऐसा होता है मिश्र जी ने इस सामाजिक विडम्बना को उजागर किया है।

दूध का दूध, पानी का पानी

यह एक " भाण" है। इसे भी मिश्र जी पूरा नहीं कर सके। इसमें एक ठाकुर साहब के दत्तक पुत्र की सम्पत्ति एक बनिए द्वारा हड़प लिये जाने का चित्र है। नाम से

ऐसा लगता है कि अंत में दत्तक पुत्र के साथ न्याय हुआ होगा और बनिए को अपने किए का फल मिला होगा। इसमें लोभान्धों की खुलकर भर्त्सना की गई है।

मिश्र जी का ज्ञान साहित्य इस बात का प्रमाण है कि जाति और धर्म में ही नहीं देश के इतिहास और भूगोल में भी उनकी दिलचस्पी थी। उन्होंने सेन राजवंश, सूबे बंगाल तथा त्रिपुरा का इतिहास तथा सूबे बंगाल का भूगोल लिखा है। ये पुस्तकें अनूदित हैं। इनके अतिरिक्त इन्होंने सवामी कृष्णानन्द परिव्राजक के "नीति रत्नावली" और "पंचामृत", ईश्वर चन्द्र विद्यासागर के "बोधोदय" तथा रजनीकान्त गुप्त के "चरित चर्चा" का भी अनुवाद किया है। ज्ञान के साहित्य में उनकी महत्त्वपूर्ण रचना "शैव सर्वश्व" है। इसका प्रकाशन 1890 ई. में खड्ग विलास प्रेस, बांकीपुर से हुआ है। यह भी अठारह पृष्ठों का एक लम्बा निबन्ध ही है। इसमें मिश्र जी ने अपनी निजी शैली में तर्क देकर शिव-विग्रह के पूजन का समर्थन किया है। विल्वपत्र चढ़ाने की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं—"विल्वपत्र चढ़ाने का भाव" 'त्रिगुणाकारं' इत्यादि श्लोक ही से प्रगट है। अर्थात् सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण, जो हमारी आत्मा के अंग हैं, उनको भेंट कर देना। यहाँ तक उनसे दूर रहना कि उन्हें शिवनिर्माल्य बना देना। जैसी कि भगवान कृष्णचन्द्र की आज्ञा है—'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' अर्थात् अपनापन उसी पर निछावर कर देना। बस यही तो धर्म की पराकाष्ठा है" (ग्रंथावली, पृ. 633) इस प्रकार की व्याख्या उन्होंने पुराणों में वर्णित अलौकिक प्रतीत होने वाले आख्यानों की भी की है।

मिश्र जी का पूरा साहित्य इस बात का प्रमाण है कि उन्होंने ज्ञान के लिए ज्ञान की साधना नहीं की है। उन्होंने जो कुछ पढ़ा और लिखा है, अपनी भाषा, अपने साहित्य और अपने देशवासियों के हित के लिए। तन, मन, धन तथा वचन से अपने देश की सेवा करना वे आस्तिक मात्र का कर्तव्य समझते थे। इसी कर्तव्य-पालन में उन्होंने अपना सब कुछ निछावर कर दिया।

पत्रकारिता का आदर्श और ब्राह्मण का संपादन

पं. प्रताप नारायण मिश्र ने ''ब्राह्मण'' का संपादन मार्च सन् 1883 ई. से आरंभ किया था। इसके पूर्व 'भारतेन्दु' हिन्दी-पत्रकारिता को एक निश्चित रूप दे चुके थे। उन्होंने 1868 ई. में ''कविबचन सुधा'' और 1873 ई में ''हरिश्चन्द्र मैगजीन'' का प्रकाशन आरंभ कर दिया था। इसके बाद उनके जीवन-काल में ही अकेले उत्तर प्रदेश से ''काशी पत्रिका'', (1876 ई., काशी), ''भारत बंधु'' (1887 ई., अलीगढ़), ''हिन्दी-प्रदीप'' (1877 ई., प्रयाग), ''आनन्द कादम्बिनी'' (1881 ई., मिर्जापुर), ''प्रयाग समाचार'' (1882 ई., प्रयाग), ''दिनकर प्रकाश'' (1883 ई., लखनऊ), ''पीयूष प्रवाह'' (1884 ई., काशी), ''भारत-जीवन'' (1884 ई., काशी), ''भारतेन्दु'' (1884 ई., वृन्दावन), ''कविकुलकंज दिवाकर'' (1884 ई., बस्ती) आदि कई पत्रिकायें प्रकाशित होने लगीं थीं। इनमें प्रथम चार ''ब्राह्मण'' से पहले हिन्दी-जगत् में अपना स्थान बना चुकी थीं। मिश्र जी ''भारतेन्दु'' की पत्रकारिता से विशेष रूप से प्रभावित थे। भट्ट जी द्वारा संपादित ''हिन्दी-प्रदीप'' भी उनका आदर्श था। ''कविबचन सुधा'' में पहले पुराने कवियों की कवितायें छपती थीं। पाक्षिक से साप्ताहिक होने पर इसमे गद्य को स्थान मिला और सामाजिक-राजनीतिक विषयों पर लेख और टिप्पणियाँ प्रकाशित होने लगीं। शुरू में ''कविबचन सुधा'' का सिद्धान्त वाक्य था—

सुधा सदा सुर पुर बसे सो नहिं तुम्हरे जोग।
तासों आदर देहु अरु पिअहु यहि बुध लोग॥

इसके बाद इसके ऊपर दो पंक्तियाँ और दी जानी लगीं—

नित नित बह यह कविबचन सुधा सदा रसखानि।
पीअहु रसिक आनन्द भरि परम लाभ जिय जानि॥

साप्ताहिक होने पर उसका सिद्धान्त-वाक्य हुआ—

खल गनन सो सज्जन दुखी मति होंहि हरिपद मति रहै।
उपधर्म छूटै, स्वत्व निज भारत गहै, कर दुख बहै॥
बुध तजहिं मत्सर, नारि-नर सम होंहिं जग आनन्द लहैं।
तजि ग्राम कवित, सुकवि जन की अमृत बानी सब कहैं॥

''हिन्दी-प्रदीप'' का सिद्धान्त वाक्य भी ''भारतेन्दु'' ने ही लिखा था—

शुभ सरस देश सनेह पूरित, प्रकट ह्वै आनंद भरे।
बचि दुसह दुर्जन वायु सो मणि दीप सम थिर नहिं टरै॥

सूझे विवेक विचार उन्नति कुमति सब यामे जरै।
"हिन्दी-प्रदीप" प्रकाशि मूरखतादि भारत तम हरै।।

मिश्र जी ने इसी परम्परा का अनुगमन करते हुए 'ब्राह्मण' का सिद्धान्त वाक्य भर्तृहरि की एक सूक्ति के आधार पर यूं निश्चित किया:

"नीति निपुण नर धीर वीर कछु सुजस करौ किन।
अथवा निन्दा कोटि कहौ दुर्बचन छिनहु छिन।।
सम्पतिहू चलि जाहु रहौ अथवा अगणित धन।
अबहिं मृत्यु किन होहु होहु अथवा निश्चलतन।।
पर न्याय-पंथ को तजत नहिं जे विवेक गुण ज्ञान निधि।
यह संग सहायक रहत नित देत लोक परलोक सिधि।।"

'ब्राह्मण' के मुख पृष्ठ पर सबसे ऊपर अर्धचन्द्र बना रहता था। चन्द्रमा के आकार के भीतर संस्कृत की यह सूक्ति छपती थी—"शत्रोरपि गुणावाच्या दोषावाच्या गुरोरपि" इसे भी 'ब्राह्मण' का सिद्धान्त-वाक्य कहा जा सकता है। चन्द्रमा के आकार के ऊपर "१" लिखा रहता था। 'ब्राह्मण' का आकार $9^1/_2$ इंच लम्बा और $6^1/_2$ इंच चौड़ा होता था। इसकी पृष्ठ संख्या 12 थी। इसकी एक प्रति का मूल्य दो आना और वार्षिक मूल्य मात्र एक रुपया था। इसके स्तम्भों मे थोड़ा-बहुत परिवर्तन होता रहता था। प्रथम अंक में "प्रस्तावना", "प्रेरित पत्र", "स्थानीय समाचार" तथा "विज्ञापन" मात्र चार स्तम्भ थे। बाद के अंकों में कुछ साहित्यिक रचनायें, सामयिक विषयों पर टिप्पणियाँ, तथा समालोचना आदि स्तम्भ बढ़ा दिये गए थे। इसमें मुख्य रूप से मिश्र जी की ही रचनाएँ छपती थीं। इस सम्बन्ध में श्री विजयशकर मल्ल ने लिखा है—

"अधिकतर रचनाएँ पं. प्रताप नारायण मिश्र की रहती थीं। श्री राधाकृष्णदास, पं. बालकृष्ण भट्ट और पं. श्रीधर पाठक भी कभी-कभी इसमें लिखते थे। एकाध लेख भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और पं. अयोध्या सिंह उपाध्याय के भी हैं।" (ग्रंथावली, परिशिष्ट, पृ. 704) बाँकीपुर जाने के बाद 'ब्राह्मण' की पृष्ठ संख्या 24 हो गई थी और लेखकों में भी कुछ नये नाम जुड़े थे। मल्ल जी के अनुसार श्री बलभद्र मिश्र, कार्तिक प्रसाद मिश्र, गदाधर प्रसाद शर्मा, ललित कवि, मिजाजी लाल शर्मा, सीताराम, अम्बिका प्रसाद, काशीनाथ चौबे, कवि गोप, बद्री दीन शुक्ल आदि अन्य लेखकों का सहयोग भी 'ब्राह्मण' को प्राप्त हुआ था।

'ब्राह्मण' के पहले अंक में "प्रस्तावना" शीर्षक से मिश्र जी ने अपने पत्र का उद्देश्य स्पष्ट किया है—"हम गुणी हैं वा औगुणी यह तो आप लोग कुछ दिन में आप ही जान लेंगे, क्योंकि हमारी आपकी आज पहिली भेंट है। पर यह तो जान रखिए कि भारतवासियों के लिए क्या लौकिक क्या पारलौकिक मार्ग में एक मात्र अगुआ हम और हमारे थोड़े से हिन्दी समाचार पत्र भाई ही बन सकते हैं। हम क्यों आए हैं? यह न पूछिए। कानपुर

इतना बड़ा नगर! सहस्रों मनुष्य की बस्ती! पर नागरी पत्र, जो हिन्दी-रसिकों का एक मात्र मन बहलाव, देशोन्नति का सर्वोत्तम उपाय, शिक्षक और सभ्यता दर्शक अत्युच्च ध्वजा यहाँ एक भी नहीं। भला यह हमसे कब देखी जाती है? हम तो बहुत शीघ्र आप लोगों की सेवा में आते और अपना कर्तव्य पूरा करते परंतु अभी अल्पसामर्थी अल्पवयस्क है, इसलिए महीने में एक ही बार आ सकते हैं।" प्रस्तावना का अंत करते हुए वे कहते हैं— "हाँ एक बात रही जाती है कि हममें कुछ अवगुण भी हैं, तो सुनिए। जन्म हमारा फागुन में हुआ है और होली की पैदाइश प्रसिद्ध है। कभी कोई हँसी कर बैठें तो क्षमा कीजियेगा। सभ्यता के विरुद्ध न हो पावेगी। (खण्ड 1, संख्या 1, 15 मार्च, सन् 1883 ई.)

उपर्युक्त प्रस्तावना से स्पष्ट है कि मिश्र जी पत्र-पत्रिकाओं को शिष्ट परिहास और मन बहलाव के साधन के अतिरिक्त देशोन्नति का सर्वोत्तम उपाय, शिक्षक, सभ्यता-दर्शक तथा लौकिक एवं परलौकिक उन्नति का आधार मानते थे।

'ब्राह्मण' के खण्ड एक सं. 3 में उन्होंने अपने कर्तव्य को स्पष्ट करते हुए लिखा था—"जब हम अपने कर्तव्य पर दृष्टि करते हैं तो एक पहाड़ सा दिखाई पड़ता है। जिसका उल्लंघन करना अपनी शक्ति से दूर जाना पड़ता है। सहस्रों विषय विचारणीय हैं, किस-किस पर लिखें और यदि लिखें भी तो यह आशा बहुत कम है कि कोई हमारी सुनेगा। परन्तु करें क्या? काम तो यह उठाया है, यदि अपने ग्राहकों को यह समाचार दें कि अब गरमी बहुत पड़ने लगी, या फलाने लाला साहब की बारात बहुत धूम से उठी, या हमारे जिले के मजिस्ट्रेट साहब, तहसीलदार साहब और कोतवाल साहब इत्यादि धर्म और न्याय के रूप ही हैं, तो हमारा पत्र तो भर जायगा पर किसी जीव का कुछ लाभ न होगा और यदि सच-सच वह असह्य दुःख जो हम प्रजागण को है, वह लिखें तो उससे लाभ होना तो बहुत दूर दिखाई देता है, पर जिनके हाथों वह असह्य दुःख हमको प्राप्त होते है वह हम पर क्रुद्ध होंगे। यही डर लगता है कि कहीं "नमाज के बदले रोजा न गले पड़े"। हम भाट नहीं कि बड़े आदमियों और राजपुरुषों की निरी झूठी स्तुति गाया करें। जो हो सो हो, हम ब्राह्मण हैं, इसमें हमारा धर्म नष्ट होता है और हम पतित हुए जाते हैं जो अत्यन्त दीन और असमर्थ देश भाइयों पर अत्याचार होते सैंकड़ों मनुष्यों से सुने और फिर उसे सर्वसाधारण और सर्कार पर विदित न करें। यही तो हमारा कर्तव्य है।" इससे हम अनुमान लगा सकते हैं कि कितनी कठिनाइयों में और कितना संत्रास झेलकर मिश्र जी ने 'ब्राह्मण' के माध्यम से अपने देश भाइयों पर होने वाले अत्याचारों को जनता और सरकार के सामने रखा था और इसे ही अपना कर्तव्य माना था।

समाचार संकलन 'ब्राह्मण' का मुख्य उद्देश्य नहीं था। इसलिए इसमें अन्य पत्रों से समाचार संकलित कर लिए जाते थे। समाचार देश-विदेश सभी जगह के होते थे। मिश्र जी समाचारों को कथात्मक बनाकर प्रस्तुत करते थे। यदि उन्हें यह समाचार देना होता कि 23 जून को कलकत्ते के पास ड्राइवर की सावधानी से एक बुढ़िया रेल के नीचे आने

से बाल-बाल बच गई तो ये इसे इस प्रकार प्रस्तुत करते थे—"23 जून को दोपहर पीछे एक वृद्ध स्त्री रेलवे लाइन पर नाजरा और मुजरा के मध्य में कलकत्ते के पास ही चली जाती थी, स्त्री ने सीटी की आवाज नहीं सुनी और उसके पीछे साउथ ईस्टर्न स्टेट रेलवे गाड़ी चली आती थी, निदान देशी ड्राइवर की पूरी खबरदारी और होशियारी से इंजन ठहराया गया। कहते हैं कि इंजन से चार फीट आगे बुढ़िया रह गई थी। उस समय इंजन को देखते ही बुढ़िया के होश उड़ गए और कदम न पड़ सका। यह चौथी बार है कि इस देशी ड्राइवर ने मनुष्य की जान बचाई है।"

उपर्युक्त समाचार में कथात्मक शैली के अतिरिक्त एक बात और विचारणीय है। मिश्र जी ने "देशी ड्राइवर" पर विशेष बल दिया है। वे यह प्रकट करना चाहते है कि देशी ड्राइवर में दक्षता और मनुष्योचित दयालुता दोनो हैं। ड्राइवर विदेशी होता तो बुढ़िया की जान शायद ही बचती। इस प्रकार वे अपने देश के लोगों की छोटी-छोटी बातों में भी जातीय गौरव का अनुभव स्वयं करते थे और दूसरों को भी कराना चाहते थे।

उन्होने अपने पत्र द्वारा निरन्तर समाज को शिक्षित करने का प्रयत्न किया। लोगों की मानसिकता को बदलने के लिए एड़ी-चोटी का पसीना एक कर दिया और अपने पत्र की प्रस्तावना को सार्थक प्रमाणित किया।

'ब्राह्मण' ने न्याय पथ पर दृढ़ रहने का व्रत लिया था। वह कभी इससे विचलित नहीं हुआ। उसने सदैव पीड़ितों का पक्ष लिया। पीड़ित कोई भी हो, स्त्री हो, चाहे बालक; मजदूर हो, चाहे मध्य वर्ग का बाबू; यदि उसके साथ कहीं कोई अन्याय हुआ तो 'ब्राह्मण' ने आवाज उठाई। 'ब्राह्मण' के प्रत्येक अंक में मिश्र जी समाज हित में कुछ न कुछ अवश्य लिखते थे। समाज की छोटी-छोटी बातों पर भी उनकी दृष्टि जाती थी। कभी वे लोगों से चेचक का टीका लगवाने की अपील करते थे, कभी मुक्ति की चिन्ता करने वालों को सत्कर्म का उपदेश देते थे। कभी-कभी पौराणिक शब्द का तर्क सिद्ध बुद्धिग्राह्य अर्थ समझाते थे, कभी अनाथ बालकों के सहायतार्थ समाज के सम्पन्न लोगों को अनाथालयों को अर्थ-दान की प्रेरणा देते थे। कभी युवकों की अकर्मण्यता पर व्यंग्य करते थे, कभी धर्मी की ओर से कुतर्की को जवाब देते थे। कभी देशी कपड़े के व्यवहार के लिए लोगों से आग्रह करते थे। कभी थोड़ी अंग्रेज़ी पढ़कर बाबू गिरी के लिए भटकने वालों की भर्त्सना करते थे। कभी बाल-विवाह की बुराइयों का उल्लेख करके उसका विरोध करते थे, कभी पाठकों को समझाते थे कि इस संसार से अलग स्वर्ग और नर्क कहीं कुछ नहीं है। कभी ईसाइयों के धर्म-प्रचार का विरोध करते थे, कभी "गोरक्षा" के लिए हिन्दू-भाइयों को प्रेरित और उत्साहित करते थे। कभी सरकारी महकमों और दफ्तरों विशेषतः रेल विभाग में बढ़ती हुई रिश्वतखोरी की निन्दा करते थे। कभी जुआ खेलने की आदत को सभी बुराइयों की जड़ सिद्ध करके उसका विरोध करते थे। कभी देशोद्धारकों को गाँवों में जाकर गाँव वालों को यह समझाने की प्रेरणा देते थे कि थानेदार साहब लाट नहीं हैं जो बात-बात में तुम्हें

धमकाकर मनमाना व्यवहार करें, राजस्व दे चुकने के बाद किसी को कुछ देना उचित नहीं है, तुम्हारे घर की स्त्रियां भेड़-बकरी नहीं हैं, सब बातों में उनका भी उतना ही अधिकार है जितना तुम्हारा है। घर में कन्या का जन्म होना अभाग्य-सूचक नहीं है। कभी अपने पाठकों को ऐसे ठगों से सावधान करते थे जो अपने स्वार्थ के लिए बनावटी संस्थाओं की स्थापना करके उनमें अपने रिश्तेदारों को सभी महत्त्वपूर्ण पदों पर बैठा देते हैं और चिकनी-चुपड़ी बातें करके लोगों से चन्दा वसूल करते हैं। मिश्र जी अपने पाठकों को निरन्तर यह समझाने की कोशिश करते थे कि अंग्रेज देश का धन लूट रहे हैं। "इनकम टैक्स" शीर्षक टिप्पणी में वे कहते है—"अब हमारा यह सिद्धान्त सत्य होने में किसी को कुछ सन्देह न होगा कि जितना दरिद्र मुसलमानों के सात सौ वर्ष में प्रचंड शासन द्वारा न फैला था, उतना, वरंच उससे अत्यधिक इस नीतिमय राज्य में विस्तृत है।" (ब्रा. खण्ड 3, स. 12) "उन्नति की धूम" शीर्षक निबन्ध में वे उत्तर प्रदेश के औद्योगिक नगरों की गरीबी का चित्र खींचते हुए कहते हैं—"अभी वह लोग सैंकड़ों नहीं सहस्रों जीते हैं जो देख चुके हैं कि लखनऊ, मिरजापुर, फर्रुखाबाद आदि नगरों में थोड़े ही दिन हुए कि आठों पहर कंचन बरसता था और बड़ी-बड़ी दूर के लोग आ-आकर असहस्रों कमा ले जाते थे किन्तु अब यहाँ जिस बाजार को देखिए भाँय-भाँय होती है। सहस्रों निवासी घर छोड़-छोड़ नगरान्तर को चल दिए और सैंकड़ों घर ऐसे दिखाई देते हैं जिन्हें देख के बोध होता है कि इनमें कोई बहुत कुटुम्बी महाधनी निवास करते थे पर आज अँगनाई में घास उगती है और कौए कुत्ते रहते हैं।" (ब्रा. खण्ड 8, सं. 6) संपादक के रूप में मिश्र जी यह भी अनुभव करते हैं कि निरी सिधाई से कुछ होने वाला नहीं है। वे देशवासियों से कहते है—"अपने धन, बल, विद्या, जाति, भूमि, मान, गौरवादि के रक्षणार्थ छल-बल सभी कर्तव्य हैं। सदा सर्वदा भकुआ बना रहना ठीक नहीं। स्मरण रहे कि टेढ़ जानि शंका सब काहू। सुनि समझहु मानहु पतियाहू। (ब्रा. खण्ड 2, सं. 2) वे देशभक्ति के अभाव को भारतीयों की निर्बलता का सबसे बड़ा कारण समझते थे। "सबै सहायक सबल के, कोउ न निबल सहाय" शीर्षक निबन्ध में वे अनेक घटनाओं का हवाला देकर देशवासियों को समझाते हैं कि अंग्रेज सबल हैं, वे शासक हैं, हम पराधीन हैं, इसलिए न्याय-संगत होने पर भी हमारी बात नहीं सुनी जाती और वे कुछ भी करें कितना अत्याचार करें, उसे न्यायोचित ठहराया जाता है। इसलिए "यदि हम अपना पशुत्व दूर किया चाहें तो केवल सभाओं में लेक्चर देना वा अखबारों में लम्बे-लम्बे लेख देना, सरकार से दुःख रोना मात्र लाभ जनक न होगा। इसके लिए तो आँखें मीच कर आगा-पीछा कुछ न सोचकर जैसे हो वैसे, भातृ स्नेह-वर्धन में जुट जाना चाहिए। नहीं तो कोरी बातों से कभी कुछ न होगा। हमारे नैर्बल्य का महत्तम कारण केवल देश-भक्ति का अभाव है।" ब्रा. खण्ड 2, सं. 4) 'ब्राह्मण' का सिद्धान्त वाक्य था कि शत्रुओं के भी गुणों का बखान करना चाहिए और गुरु के भी दोष प्रकट कर देना चाहिए। इसका अनुसरण करते हुए मिश्र

जी ने श्रीयुत ए.ओ. ह्यूम (भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के संस्थापक) श्री ब्रेडला (ब्रिटिश लोक सभा के सदस्य और भारत के शुभचिन्तक) और लार्ड रिपन (1880-84 ई. तक भारत के वाइसराय) जैसे अंग्रेजों (जो शासक जाति के होने के कारण भारतवासियों के शत्रु थे किन्तु अपने गुणों के कारण सम्मान के पात्र बन गए थे) की प्रशंसा की और 'उचित वक्ता' (कलकत्ता से प्रकाशित उनका सहकर्मी पत्र) जैसे पत्र की 'मुनीनां च मतिभ्रमः' शीर्षक से व्यंग्य-गर्भित भर्त्सना की। यही नहीं उन्होंने 'ब्राह्मण' में अनेक साहित्यिक रचनाओं की दो-टूक आलोचना करके अपनी स्पष्टवादिता का परिचय दिया। ब्राह्मण, खण्ड 8, संख्या 8 के 'प्राप्ति स्वीकार' स्तम्भ के अन्तर्गत उन्होंने चतुर्भुज मिश्र के "आल्हा रामायण सुन्दरकाण्ड" की आलोचना इस प्रकार की—"पंडित जी को चाहिए कि इस छन्द तथा इस भाषा में वह विषय लिखें जो सर्व साधारण के लिए सांसारिक उपकार का हेतु हों। रामचरित को इस रूप में लाने की देश के लिए कोई विशेष आवश्यकता नहीं।"

देश-हित का निरन्तर ध्यान रखने के कारण 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' की स्थापना (1885 ई.) होने पर मिश्र जी को विशेष प्रसन्नता हुई। उन्हें लगा कि अब देश की समस्याओं का निराकरण करने के लिए अखिल भारतीय स्तर पर एक सामूहिक आन्दोलन उठ खड़ा हुआ है। उन्होंने 'ब्राह्मण' खण्ड 5, सं. 6 में "कांग्रेस की जय" शीर्षक लगभग तीन पृष्ठों की प्रशंसापरक टिप्पणी लिखी। मिश्र जी को हार्दिक प्रसन्नता इस बात से हुई थी कि इस अवसर पर पूरा देश एकता का प्रतीक बनकर एक जगह एकत्र हो गया था। उन्होंने लिखा—"आह! इस अवसर पर जिसने प्रयाग की शोभा न देखी उसने कुछ न किया। लूथर साहब के हाते का नाम हमने "प्रेम नगर" रखा था क्योंकि लड़के, बूढ़े, हिन्दू, मुसलमान, जैन, क्रिस्तान, पश्चिमोत्तर देशी, बंगाली, महाराष्ट्र, गुजराती, सिंधी, मद्रासी, फारसी, इंगलिस्तानी, सब के सब प्रेम से भरे हुए दृष्टि आते थे।" (बा. खण्ड 5 सं. 6) उन्हें यह संस्था साक्षात् दुर्गा का रूप प्रतीत हुई क्योंकि जैसे दुर्गाजी 'देवानां दिव्यगुणविशिष्टानां तेजोराशि-समुद्भवा' थीं उसी प्रकार यह कांग्रेस भी "देश हितैषी देव प्रकृति लोगों की स्नेह-शक्ति से आविर्भूत हुई थी।" इससे हम यह भली-भाँति अनुभव कर सकते है कि मिश्र जी की दृष्टि देश में घटित होने वाली राष्ट्रहित की प्रत्येक घटना पर केन्द्रित थी। 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' के साथ ही सामाजिक सुधारों के लिए 'सोशल कांफरेन्स' की स्थापना, सर डब्ल्यू वेडर बर्न का कांग्रेस का अध्यक्ष होना, सुरेन्द्र नाथ बैनर्जी की देश सेवा, इलबर्ट बिल, शिक्षा कमीशन, ब्रेडला साहब का आगमन, उनकी मृत्यु, स्वामी दयानन्द की मृत्यु, 'भारतेन्दु' हरिश्चन्द्र की मृत्यु, स्वामी भास्करानन्द की मृत्यु, केशवचन्द्र सेन की मृत्यु, इन सभी घटनाओं का उल्लेख उन्होंने भाव-विभोर होकर किया है। यही नहीं विदेश में घटित होने वाली उन घटनाओं पर भी वे सतर्क निगाह रखते थे—जिनका सम्बन्ध भारत के हित-अहित से था, 'ब्राह्मण' खण्ड 3, सं. 3, में "रूस और मूस" शीर्षक टिप्पणी में उन्होंने रूसियों के भारत-आक्रमण की संभावना की चर्चा

की है और अपनी हास्य-व्यंग्य-प्रधान शैली में मूसों (चूहों) के आक्रमण को रूसियों के आक्रमण से अधिक खतरनाक बताया है। मिश्र जी की यह सतर्कता उस स्तर की नहीं थी जिस स्तर की 'भारतेन्दु' की थी। 'भारतेन्दु' अपने समय की प्रत्येक महत्त्वपूर्ण घटना का सूक्ष्म अध्ययन करके उसके सम्बन्ध में अपनी राय कायम करते थे। 1870 ई. में फ्रांस और जर्मनी के बीच होने वाले युद्ध से वे भलीभाँति परिचित थे। उनकी सहानुभूति फ्रांस से थी। वे युद्ध के पूरे उतार-चढ़ाव का ब्योरा 'कविबचन सुधा' में प्रकाशित करते थे। अमरीकी स्वतंत्रता संग्राम से भी वे अच्छी तरह परिचित थे और उससे उन्होंने प्रेरणा ली थी। मिश्र जी सतर्क जरूर थे किन्तु सुनी हुई बातों पर भी वे विश्वास कर लेते थे। वे "रूस" के आक्रमण की धमकी का उल्लेख तो करते हैं किन्तु उसे गंभीरता से नहीं लेते। वे "मूस" को "रूस" से अधिक खतरनाक सिद्ध करने में जुट जाते हैं। जहाँ तक देश और समाज हित का प्रश्न है, 'ब्राह्मण' की चिन्ता अपने समय के किसी भी अन्य पत्र से कम नहीं थी।

मिश्र जी 'ब्राह्मण' को पाक्षिक बनाना चाहते थे। उन्होंने खण्ड एक, संख्या 11 में लिखा था—"दूसरे वर्ष से जो एक हज़ार ग्राहक हो गए तो इसे 15 दिन में प्रकाशित करने का विचार है। पर अफसोस, बहुतेरे सज्जनों ने इसका मूल्य आज तक नहीं भेजा।" मिश्र जी को यह शिकायत बराबर बनी रही। 'ब्राह्मण' कभी आर्थिक कठिनाई से मुक्त नहीं हुआ। खण्ड 3 सं. 5 में उन्होंने विज्ञापन निकाला—

"दाता जजमान! हमारे पाठक!! अनुग्राहक ग्राहक!!!
चार महीने हो चुके 'ब्राह्मण' की सुधि लेव।
गंगा माई जै करैं हमैं दक्षिणा देव॥"

खण्ड 3, सं. 8 में उन्होंने प्रकाशित किया—

"हरि गंगा
आठ मास बीते जजमान।
अब तो करो दच्छिना दान॥"

खण्ड 3, सं. 12 और खण्ड 4, सं. 1 में उन्होंने अपने रोगग्रस्त होने की सूचना प्रकाशित करके ग्राहकों से चन्दा देने का अग्रह किया। खण्ड 5, सं. 3 में उन्होंने अपने मित्रों से 'ब्राह्मण' की दस-दस, पाँच-पाँच प्रतियाँ बेचने का आग्रह किया। इसी प्रकार खण्ड 6, सं. 10 और खण्ड 7, सं. 3 में भी उन्होंने ग्राहकों-मित्रों से सहायता की अपील की। खंड 7, सं. 6, में उन्होंने निरन्तर होने वाले घाटे का उल्लेख करके 'ब्राह्मण' के बन्द होने की संभावना प्रकट की। खण्ड 7, सं. 12 में उन्होंने "अंतिम सम्भाषण" प्रकाशित करते हुए लिखा—

"दरो दीवार प हसरत से नजर करते हैं।
खुश रहो अहले वतन हम तो सफर करते हैं।"

इसके बाद खंड 8 सं. 1 से 'ब्राह्मण' के प्रकाशन का दायित्व 'खड्ग विलास प्रेस' बॉकीपुर, के स्वामी बाबू रामदीन सिंह ने ले लिया। इस अंक में 'नवसम्भाषण'' शीर्षक के अंतर्गत मिश्र जी ने लिखा—''अब हम पूर्ण रूप से निर्द्वन्द्व हो गए अतः अपनी सामर्थ्य भर इस पुनर्जीवित 'ब्राह्मण' को मेढ़क (प्रसिद्ध है कि मेढ़क गरमियों में मर जाते है और वर्षा मे फिर जी उठते हैं) की नाई टर्र टर्र करने वाला न बनावेंगे किन्तु मृत्युंजय मंत्र की भाँति देश के शारीरिक मानसिक और सामाजिक रोग-दोषादि को दूर करने वाला सिद्ध कर दिखावेंगे। पर कब ? जब आप लोग भी ध्यान दे के पढ़ेंगे और इसके प्रचार का पूर्ण उद्योग करते रहेगे तथा समय-समय पर सुन्दर लेख भी भेजते रहेंगे।'' प्रकट है कि अपने प्रकाशन—वर्ष से ही 'ब्राह्मण' अर्थाभाव का अनुभव करने लगा था। मिश्र जी ने अपने जीवट के बल पर उसे सात वर्षों तक जीवित रखा और जब आठवें वर्ष में बाबू रामदीन सिंह की कृपा से इसे नया जीवन मिला तो भार-मुक्त होकर उन्होने राहत की साँस ली और फिर से इसके माध्यम से देश-सेवा का व्रत लिया। रुग्ण होने पर भी वे 'ब्राह्मण' का संपादन करते रहे। 'ब्राह्मण' कब तक निकलता रहा इसकी निश्चित सचना नहीं है। इस सम्बन्ध में डॉ. विजयशंकर मल्ल लिखते हैं—

'ब्राह्मण' कब तक निकलता रहा इसका ठीक पता नहीं है। हमें नवें वर्ष के बारहवें अंक (जुलाई, ह.सं. 9, सन् 1894 ई) तक की प्रति देखने को मिली है। इसी अंक मे एक प्रकाशकीय सूचना छपी है कि अब 'ब्राह्मण' का आकार प्रतिमास पाँच फार्म रहेगा। वार्षिक चन्दा भी बढ़कर एक रुपया 6 आना कर दिया गया है। पं. प्रताप नारायण मिश्र की मृत्यु जुलाई सन् 1894 में हुई। अत· उनके समपादकत्व में निकलने वाला यही अंतिम अंक है, इतना तो निश्चित है। सुनते है मिश्र जी की मृत्यु के बाद भी कुछ दिनों तक किसी तरह 'ब्राह्मण' चलता रहा।'' (ग्रंथावली, पृ. 706)

'ब्राह्मण' पत्र ने हिन्दी के समसामयिक विद्वानों को किस रूप में प्रभावित किया था इसका कुछ अनुमान श्री बालमुकुन्द गुप्त, और बाबू राधाकृष्ण के कथनों से लगाया जा सकता है—

''हिन्दी साहित्य के आकाश में हरिश्चन्द्र के उदय होने के थोड़े ही दिन पश्चात् एक ऐसा चमकता हुआ तारा उदय हुआ था, जिसकी चमक-दमक को देखकर लोग उसे दूसरा चन्द्र कहने लगे थे। उस चन्द्र के अस्त हो जाने के पश्चात् इस तारे की ज्योति और भी बढ़ी। बड़े हर्ष के साथ कितनों ही के मुख से यह ध्वनि निकलने लगी कि यही उस चन्द्र की जगह लेगा। पर दु·ख की बात है कि वैसा होने से पहले ही कुछ दिन बाद यह उज्ज्वल नक्षत्र भी अस्त हो गया। इसका नाम पण्डित प्रताप नारायण मिश्र था।''

—(गुप्त निबन्धावली, प्र. भा. पृ. 7)

'ब्राह्मण' की रोचकता के विषय में बाबू राधाकृष्ण दास लिखते हैं—''इस पत्र का आदर हिन्दी रसिक मण्डली में बहुत ही हुआ और इसके लेखों की मनोहरता ने सबको

मोहित कर लिया यहाँ तक कि स्वयं भारतेन्दु जी उसके लेखों से मोहित हो जाते थे।"

—(राधाकृष्ण ग्रन्थावली, पहला खण्ड पृ. 515)

हिन्दी के प्रखर मार्क्सवादी आलोचक डॉ० राम विलास शर्मा ने लिखा है सम्पादक के व्यक्तित की छाप जैसी 'ब्राह्मण' पत्र पर थी, वैसी और किसी पर नहीं। इसे कानपुर से प्रताप नारायण मिश्र ने निकाला था और इसकी नस-नस में जो शरारत और विद्रोह भरा हुआ था, वह उसकी एक-एक लाइन से प्रकट होता था। हास्य के साथ स्वाधीन चेतना फ़ैलाने में यह पत्र सबसे आगे था।"

—भारतेन्दु युग और हिन्दी-भाषा की विकास-परंपरा पृ. 27)

मिश्र जी ने मार्च सन् 1883 ई. से आरंभ करके अपने जीवन के अंतिम क्षण तक पूरी निष्ठा से 'ब्राह्मण' का सम्पादन किया। उनका सारा लेखन इसी सम्पादन-साधना का ही परिणाम है। आपने पत्र संपादन का जो आदर्श प्रस्तुत किया, वह आज भी अनुकरणीय है।

विचारधारा

विचारधारा का प्रयोग मै यहाँ ''विचार सम्प्रदाय'' (आइडियॉलोजी) के अर्थ में नहीं कर रहा हूँ। प्रताप नारायण मिश्र किसी विचार-सम्प्रदाय के प्रति प्रतिबद्ध नहीं थे। उनके युग में हिन्दी-भाषी क्षेत्र का कोई भी प्रबुद्ध नेता या साहित्यकार किसी ''विचार सम्प्रदाय'' के प्रति एकनिष्ठ नहीं था। वह नव-जागरण का युग था। जीवन के प्रति वैज्ञानिक दृष्टि का आलोक फैल रहा था। एक नवीन जीवन-दष्टि का शुभारंभ हो चुका था। यह जीवन-दृष्टि, एक शब्द में कहा जाय तो नये सिरे से अपने स्वत्व की पहचान बनाने की आकुलता मात्र थी। हिन्दी-प्रदेश में इसका नेतृत्व 'भारतेन्दु' कर रहे थे। अपनी स्वस्थ सांस्कृतिक परंपरा की रक्षा करते हुए नयी परिस्थिति में अपने समाज और राष्ट्र को नये भावबोध से युक्त करके उसे शक्ति-सम्पन्न और गतिशील बनाना उनका उद्देश्य था। यही आदर्श प्रताप नारायण मिश्र का भी था।

यहॉ विचारधारा से हमारा तात्पर्य मात्र इतना ही है कि मिश्र जी जीवन की समस्याओ के प्रति अपनी एक खास राय रखते थे। वे सामाजिक और राष्ट्रीय परिस्थितियों के प्रति उदासीन नहीं थे। प्रत्येक समस्या की तह में जाकर वे उसके कारण और निदान की चेष्टा करते थे। उनका सारा साहित्य इसी चेष्टा का परिणाम है। उनकी रचनाओं में उनके विचार बिखरे हुए हैं। यदि उन्हे सूत्रबद्ध किया जाय तो उनकी एक निश्चित चिन्तन-पद्धति का आभास मिलता है। हम यहाँ मिश्र जी के बिखरे विचारों को सूत्र-बद्ध करने का प्रयास करेंगे।

मिश्र जी परम्परागत जीवन-मूल्यों को परिष्कृत रूप में प्रतिष्ठित करना चाहते थे। नयी रोशनी की ऊपरी चमक-दमक और टीप-टाप उन्हें पसन्द नहीं थी। वे व्यक्ति को पूर्णतः नैतिक आचरणशील बनाना चाहते थे। व्यक्ति नैतिक-मूल्यों के प्रति निष्ठावान होकर ही अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकता है। मिश्र जी ने अपनी छोटी-सी पुस्तिका—''सुचाल शिक्षा''—में व्यक्तित्व के विकास के लिए अनेक नैतिक गुणों की चरितार्थता पर बल दिया है। ये गुण हैं—विद्याध्ययन और मनन, एकाग्रता (मनोयोग), अनासक्ति (निर्लिप्तता), मितव्ययिता, लोकाराधन, जातीय मर्यादा की रक्षा (निजत्व), आत्म विश्वास (आत्मगौरव), स्वाभिमान (आत्मीयता), अन्तरात्मा का अनुसरण, सत्संग, आत्मनिर्भरता, आर्थिक सावधानी (अर्थ शुद्धि), स्वत्वसंरक्षण, आस्तिकता और कर्तव्य-परायणता। इन गुणों को धारण करने की शिक्षा देने के साथ ही मिश्र जी ने बाह्य आचरण

सबन्धी कुछ बातों पर भी विशेष ध्यान देने पर बल दिया है। उनकी मान्यता थी कि जो व्यक्ति छोटे-छोटे कामों में नियमितता और सावधानी बरतता है वही बड़े-बड़े कामो को भी उत्तम रीति से कर सकता है। सोना, जागना, उठना, बैठना, खाना, पीना, चलना, फिरना इन नित्य कर्मो को भी संयम और सावधानी से करना चाहिए। मिश्र जी समय की पाबन्दी को व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक मानते थे। समय नष्ट करने का अर्थ है, जीवन नष्ट करना। उनका तर्क है।—''तीन लोक और तीन काल में जो कुछ होता है सब इन्हीं मिनटों, घटों और दिनों के मध्य हुआ करता है। इसलिए इन्हें तुच्छ समझकर व्यर्थ बिताना उस अनंत काल को तुच्छ समझना है जिसे प्राचीन बुद्धिमानो ने ईश्वर का रूप कहा है।'' (ग्रथावली, पृ. 654)। अवकाश के क्षणों में निर्दोष मनोविनोद (जिसमें अपना मनोविनोद हो किन्तु किसी की हानि न हो), पर्यटन, तथा विद्या एवं ज्ञान-वर्धन करने वाली सभाओ में जाने की व्यवस्था देने के साथ ही वे नीति, इतिहास, जीवन चरित्र, सामयिक राजनियम, तथा स्वास्थ्य सम्बन्धी पुस्तकों के अध्ययन को आवश्यक मानते हैं। मिश्र जी ''सहृदयता'' को सभी गुणों का आधार मानते हैं और इसके विकास के लिए सत्कवियों के काव्य-ग्रंथों के अध्ययन को एक मात्र साधन घोषित करते है। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि ऊपर जिन नैतिक गुणों पर मिश्र जी ने बल दिया है उनका उल्लेख तो भारतीय धर्मशास्त्र एवं नीति-ग्रंथों मे मिलता है किन्तु ''सहृदयता'' को सभी गुणो का आधार मानना और उसके लिए काव्य-ग्रंथों के अनुशीलन पर बल देना मिश्र जी की अपनी सूझ-बूझ का परिणाम है। यदि मनुष्य सहृदय और संवेदनशील न हुआ तो सारे नैतिक गुण और सदाचार यांत्रिक बन जाते हैं। आगे चलकर आचार्य शुक्ल ने ''करुणा'' के प्रसंग में मनोवेग-वर्जित सदाचार को दम्भ या झूठी कवायद कहकर प्रकारान्तर से मिश्र जी के कथन का ही समर्थन किया है। मिश्र जी ने जिन नैतिक गुणों का समर्थन किया है, उन्हें नया अर्थ भी प्रदान किया है। उदाहरण के लिए ''आस्तिकता'' शब्द लीजिए। इसका परम्परागत अर्थ है—''ईश्वर और परलोक में विश्वास।'' मिश्र जी इस परम्परागत अर्थ का विरोध नहीं करते कितु ''ईश्वर की सत्ता में विश्वास'' की उपयोगितावादी व्याख्या करते हुए कहते हैं— ''उसके होने वा न होने के लिए पुष्ट प्रमाणों के हेतु धावमान न रह कर यौं मान लेना उचित है कि यदि वह है, तब तो हमें अपना विश्वासी समझकर हमारा कल्याण करेगा ही और नही है तो भी उसके भय से हम यथासाध्य बुरे कामों से बचे रहते हैं, उसकी कृपा के आसरे भलाइयों की ओर थोड़ी-बहुत श्रद्धा रखते हैं, उसे सब काल तथा सब स्थानों पर अपना सहायक समझकर विपत्ति के समय अधीरता के कारण चित्तवृत्ति को निर्बल नहीं होने देते, इसी में क्या बुराई है?'' (ग्रंथावली, पृ. 964) इसी क्रम मे वे आगे तर्क देते है कि वह जगत् भर का पिता है इसलिए जगत् की भलाई करना आस्तिक व्यक्ति का कर्तव्य है किन्तु जगत् भर की भलाई कठिन काम है इसलिए ''जहाँ तक हो सके अपने देश भाइयों की भलाई में तन, मन, धन और बचन

से लगे रहना आस्तिक मात्र का महा कर्तव्य है।'' (ग्रंथावली, पृ. 695) यह आस्तिकता की तर्क-संगत नई व्याख्या है। इसी प्रकार ''मनोयोग'' शब्द के विषय में वे कहते हैं—''लोगों ने कहा है कि मन शरीर रूपी नगर का राजा है और स्वभाव इसका चंचल है यदि यह स्वछन्द रहे तो बहुधा कुत्सित ही मार्ग में धावमान रहता है।...इसलिए इसे यत्नपूर्वक दबाए रहना चाहिए।...यह रीति हमारी समझ मे केवल उन महात्माओं ही के लिए अत्युत्तम है जिन्होने संसार से कोई प्रयोजन नहीं रक्खा, किन्तु जिन्हें जगत् में रहकर प्रशंसनीय जीवन का उदाहरण दिखलाना है, उनके पक्ष में राजा को दबाव में रखकर खेदित करना ठीक नही है। ऐसा करने से शरीर में स्फूर्ति नहीं रहती, जो कर्तव्य मात्र का मूल है। अतः इसे युक्ति के साथ ऐसा बना लेना चाहिए कि प्रत्येक करणीय कार्य में प्रसन्नतापूर्वक संलग्न हो जाया करे।'' (ग्रंथावली, पृ. 661) इसी प्रकार मिश्र जी ''अवतारवाद'', ''मूर्तिपूजा'', ''स्वर्ग-नर्क'', ''मोक्ष'', आदि शब्दों पर विचार करते हैं और युग-संदर्भ के अनुकूल उनकी तर्कसंगत व्याख्या करते हैं। ''अवतारवाद'' की व्याख्या करते हुए वे कहते है—''सूक्ष्म विचार कीजिए तो विदित हो जायेगा कि संसार में जितने जड़ वा चेतन पदार्थ हैं वह सभी अपनी-अपनी आदिम दशा से अंतिम गति तक निर्विघ्नता के साथ पहुँच जायँ तो दश अवतारों में आविर्भूत हुए बिना नहीं रहते। अर्थात् दश प्रकार की गति में प्रकाशित होना ही जगत् के यावत् पदार्थो का जाति स्वभाव है और जाति स्वभाव को सभी मत के लोग ईश्वर का अंश मानते हैं। फिर आप क्यों कर सिद्ध कर सकेंगे कि ईश्वर का स्वभाव जगत् के स्वभाव से नितांत प्रतिकूल है।'' (ग्रंथावली पृ. 503)। मूर्तिपूजा का समर्थन करते हुए वे तर्क देते हैं—''जहाँ हमने मन अथवा वचन से कहा—हे प्रभु हम पर दया करो, वही हम उस निराकार की छाती के भीतर मन की कल्पना कर चुके हैं। क्योंकि मन न होगा तो दया ठहरेगी कहाँ और शरीर न होगा तो मन रहेगा कहाँ ?'' जिस समय हम कहते हैं कि ''हे नाथ! हमारी रक्षा करो, हम तुम्हें प्रणाम करते हैं उस समय उस अप्रतिम के अस्तित्व में हाथ और पाँव की कल्पना करते हैं क्योंकि रक्षा हाथो से की जाती है और प्रणाम चरणों पर किया जाता है। कारण के बिना कार्य को मान लेना तर्कशास्त्र के विरुद्ध है, फिर कौन निराकारवादी ईश्वर के मनःकल्पित हस्तपदादि रचना से बच गया।'' इस प्रकार वे सिद्ध करते हैं कि ईश्वर को निराकार मानने वाले भी प्रार्थना करते समय जब उसमें गुणों (दयालुता, भक्तवत्सलता आदि) का आरोप करते हैं तो उसके रूप की कल्पना स्वतः हो जाती है। मूर्तिपूजक उसी कल्पित रूप को मूर्त कर लेता है। अतः मूर्तिपूजा का विरोध तर्क-संगत नहीं है। स्वर्ग-नर्क और मुक्ति के सम्बन्ध में उनका दो-टूक निर्णय है—''स्वर्ग, नर्क, मुक्ति कहीं कुछ चीज नहीं है। बुद्धिमानों ने बुराई से बचने के लिए एक हौवा बना दिया है। उसी का नाम नर्क है और स्वर्ग वा मुक्ति भलाई की तरफ झुकाने के लिए एक तरह की चाट है। अथवा जो यह मान लो कि जिसमें महादु:ख की सामग्री हो वह नर्क है और परम

सुख स्वर्ग है, तो सुनिए, नर्की जीव हम गिना चुके (मिश्र जी ने कनवजिए ब्राह्मणों, कानपुर के अद्वैतियों, उपदंश के रोगियों, लम्पट बाबा की चेलियों को मुक्ति का भागी—व्यंग्य से नर्की—घोषित किया है।) उन्हीं के भाई बन्द और भी है। रहे स्वर्ग के सच्चे पात्र वह यह है—किसी हिन्दी समाचार पत्र के सहायक, बशर्ते कि वार्षिक मूल्य से धुकुर-पुकुर न करते हों, और पढ़ भी लेते हों। उनको जीते ही जी स्वर्ग न हो तो हम जिम्मेदार'' (ग्रंथावली, पृ. 45) नर्क और स्वर्ग की यह व्याख्या और उसमें जाने वालों का यह निर्णय मिश्र जी ही कर सकते थे। वे स्वयं कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे किन्तु उन्होंने नर्क में जाने वालों में कनौजियों को पहला स्थान दिया है।

इसी प्रकार पुराणों में वर्णित अनेक अटपटी प्रतीत होने वाली बातों की उन्होंने तर्क-संगत व्याख्या की है। ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि के स्वरूप—हाथ, पैर, मुख आदि—और दुर्गा, विष्णु, गणेश, शिव, सूर्य, इन्द्र, चन्द्रमा, लक्ष्मी, कामदेव, अहल्या आदि से सम्बद्ध आख्यानों की बौद्धिक व्याख्या करके उन्होंने यह प्रमाणित करना चाहा है कि ये बातें मिथ्या नहीं हैं। पौराणिकों ने इनके माध्यम से वास्तविकता को सांकेतिक और प्रतीकात्मक बनाकर प्रस्तुत किया है। यहाँ यह महत्त्वपूर्ण नहीं है कि मिश्र जी की सभी व्याख्यायें पूर्णतः सगत हैं या नही ? महत्त्वपूर्ण यह है कि उन्होंने इन धार्मिक मान्यताओं और पौराणिक आख्यानों की युग के अनुकूल नवीन बुद्धि-संगत व्याख्या करने की आवश्यकता का अनुभव किया।

निरन्तर हिन्दी, हिन्दू और हिन्दूस्तान की उन्नति का जप करने वाले मिश्र जी धार्मिक दृष्टि से न तो संकीर्ण थे न साम्प्रदायिक। ''पशु प्रार्थना'' शीर्षक अपनी लम्बी कविता में वे कहते हैं कि भारत में हिन्दू, यवन (मुसलमान) और ईसाई तीन मत हैं। तीनों भारत के शारीरिक ढाँचे को मज़बूत करने वाली हड्डियों के समान हैं। तीनों यदि एक दूसरे की सहायता नहीं करेंगे तो शरीर-धर्म के निर्वाह में कठिनाई उत्पन्न हो जायेगी। इन धर्मों के मूल में बहुत अन्तर भी नहीं है। तीनों धर्मों के प्रवर्त्तक ईश्वर भक्त थे और तीनों का जन्म एशिया में ही हुआ था। यदि ऊपरी आचार-व्यवहार को छोड़कर तात्त्विक दृष्टि से देखा जाये तो तीनों में कोई ऐसा भेद नहीं है जिसे लेकर आपस मे लड़ाई-झगड़ा किया जाय। (प्रताप नारायण मिश्र कवितावली, पृ 16, छन्द सं. 39, 42)

भारत के तीन प्रमुख धर्मों को उसके शारीरिक ढाँचे को दृढ़ करने वाली हड्डियाँ मानने वाले मिश्र जी किसी के धर्ममत में हस्तक्षेप नहीं करना चाहते थे। वे सभी धर्मों का आदर करते थे। धर्म की व्याख्या करते हुए वे कहते है—''धर्म वास्तव मे परमानन्दमय परमात्मा एव उनके भक्तों से प्रेम तथा संसार में क्षेम-स्थापन का नेम मात्र है। जितने महात्मा हो गए है, सबका यही सिद्धान्त रहा है। इसी के अन्तर्गत वेद, शास्त्र, पुराण, बाइबिल अथवा कुरान आदि किसी धर्म ग्रन्थ अथवा किसी आचार्य की सत्यता पर विश्वास रखना, यथा साध्य उन कामों से बचे रहना जिन्हें बुद्धिमानो ने बुरा ठहराया है, पक्षपात

को दूर रखके जिससे पूछियेगा यही उत्तर पाइयेगा कि वास्तव में धर्म यही है, और हम निश्चय पूर्वक कहते हैं कि यदि इस सर्व सम्मत धर्म पर सब मतों के मानने वाले चलते होते तो कभी किसी देश में, कुछ भी, विघ्न न होता।'' (ग्रंथावली, पृ. 310) मिश्र जी ''धर्म'' और ''मत'' में भेद करते है। उनके अनुसार धर्म के तत्त्व सर्वत्र एक से हैं। जितने धर्म-प्रवर्तक महात्मा हुए हैं सभी ने प्रेम का पाठ पढ़ाया है। सभी ने ईश्वर और उसकी सृष्टि से प्रेम करने की शिक्षा दी है किन्तु जब अज्ञानवश हम अपने धर्म को सबसे उत्तम मानकर दूसरे धर्म मे बुराई देखने लगते है तब हम धर्म को छोड़कर मत के आग्रही हो जाते है। संसार में धर्म सम्बन्धी सभी विवाद मतवादियों द्वारा खड़े किए जाते हैं। वे कहते हैं—''जब जहॉ कोई अनर्थ होने वाला होता है तब वहाँ उपर्युक्त धर्म के स्थान पर ''मत'' का आदर होता है। प्रत्येक समूह को यही सूझता है कि केवल हमारे यहॉ की पोथी और मत-प्रवर्तक एवं आन्तरिक वाह्यिक व्यवहार अच्छे है, सारे संसार के बुरे। (ग्रंथावली, पृ. 310) अन्यत्र वे कहते है—''वेद, पुराण, बाइबिल, कुरान, सब धर्म ग्रंथ हैं क्योंकि चोरी, जारी, विश्वासघात आदि की आज्ञा किसी में नहीं है। फिर इनकी निन्दा करने वाला स्वयं निन्दनीय नहीं है तो क्या है?'' (ग्रंथावली, पृ. 281) वे चाहते थे कि प्रत्येक धर्मावलम्बी अपनी धार्मिक रीति-नीति का पालन करे। व्यर्थ में दूसरे के धर्म और विश्वास में टॉग न अड़ाये। वे कहते हैं—''यदि ऐसा होता कि आर्यसमाजियों में आर्य, सनातन धर्मियों में पंडित महाराज, मुसलमानों मे मुल्लाजी, ईसाइयों मे पादरी साहब इत्यादि ही उपदेश करते तब कोई हानि न थी, वरंच यह लाभ होता कि प्रत्येक मत के लोग अपने-अपने धर्म में दृढ़ हो जाते। सो न करके एक मत का मनुष्य दूसरे सम्प्रदायियों में जाके शांति-भंग करता है। यही बड़ी खराबी है।'' (ग्रंथावली पृ. 280) कहना न होगा कि मिश्र जी का उपर्युक्त कथन सभी धर्मों के प्रति उनके समभाव (धर्म निरपेक्षता) का द्योतक है। वे हिन्दू धर्म की उन्नति चाहते थे किन्तु दूसरे धर्मों की अवनति नहीं चाहते थे। जब दूसरे धर्मों के लोग हिन्दू धर्म की बुराई करके, हिन्दुओं में अपने धर्म के प्रति अविश्वास पैदा करके उनके बीच अपने धर्म का प्रचार करना चाहते थे तब उन्हें खलता था। उन्होंने तर्क देकर सिद्ध किया है कि प्रेम ही परम धर्म है। (प्रेम एवं परोधर्म) वे कहते है—''अब जब हम अपने हृदय से पूछते हैं कि हमारा परम धर्म क्या है? तब चाहे करोड़ों शंका क्यों न रोकें, पर सब को लात मार के हृदयस्थ कोई देवता यही कहेगा कि प्रेम! प्रेम!! प्रेम!!! इसके दो चार युक्ति और प्रमाण भी सुन रखिये जिसमें निश्चय हो जाय कि हमारा परम धर्म प्रेम ही, स्वाभाविक धर्म प्रेम ही है। और वास्तविक मजहबे हक्कानी व मजहबे कुदरती यानी नेचरल रिलीजन प्रेम ही है, क्योंकि हमारा सृजनहार परमेश्वर स्वयं प्रेम स्वरूप है। क्योंकि सब भाषा के सब धर्म ग्रंथ उसे सर्वशक्तिमान कहते हैं। इस शब्द का अर्थ ही यह है, जिसमें सब प्रकार की सब सामर्थ्य हो वही ईश्वर है। ''कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम् समर्थ ईश्वर '' अथवा हम कह सकते है, जिसमें एक भी शब्द

का ह्रास होगा वह ईश्वर ही नहीं। तो इस नाम से सिद्ध है कि हमारी उत्पत्ति का मूल कारण ही प्रेम अर्थात् यावत् सामर्थ्य का ऐक्य है।'' (ग्रंथावली, पृ. 101-2)

धर्म का यह स्वरूप मानने के कारण मिश्र जी ने सामाजिक रूढ़ियों और अंध-विश्वासों को कभी धर्म-सम्मत नही माना। ''भलमंसी'' शीर्षक निबन्ध में उन्होंने ''पुरानी लकीर के फकीर'' बने रहने की प्रवृत्ति का खुलकर विरोध किया। उन्होंने एक साथ ''अनमेल विवाह, और दहेज प्रथा'' का विरोध और ''विधवा विवाह'' का समर्थन किया। (ग्रंथावली, पृ. 308) ''बाल्य विवाह सम्बन्धी एक खोज'' शीर्षक निबन्ध में ''शीघ्रबोध'' (ज्योतिष ग्रंथ) के जिन श्लोकों के साक्ष्य पर कट्टर सनातनधर्मी लड़कियों के बालविवाह का समर्थन करते थे उन्हीं श्लोकों की नई व्याख्या करते हुए उन्होंने इसका विरोध किया और इसे हिन्दुस्तानियों का गदहापन बताया। (ग्रंथावली पृ. 114)

मिश्र जी के समय में कान्यकुब्ज ब्राह्मण भी विलायत की यात्रा करने लगे थे किन्तु जो विलायत यात्रा करके लौटते थे उन्हे कान्यकुब्ज समाज जाति-बाहर कर देता था। मिश्र जी यद्यपि भारतीयों की विलायत-यात्रा को पसन्द नहीं करते थे किन्तु वे विलायत जाने वालों को जाति-बाहर कर देने की प्रथा के विरोधी थे। 'भलमंसी' शीर्षक निबन्ध में वे लिखते है—''बंधु बांधव होटलों में खाया करें, विधर्मिनी स्त्रियों के मुँह में मुँह मिलाया करें अथवा कोटि-कोटि कर्म कर जेल में जाया करें, कुछ चिन्ता नहीं पर विद्या पढ़ने और गुण सीखने के लिए विलायत हो आवैं तो उन्हें जाति में न मिलाना, क्यों रीति नहीं है? ऐसा करने से नाम धरा जायगा? पुरुषों की नाक कटेगी? भलमंसी में बट्टा लगेगा!'' (ग्रंथावली, पृ. 308) विलायत-यात्रा का विरोध मिश्र जी धार्मिक या सामाजिक संकीर्णता के कारण नहीं करते थे। उन्हें इसमें दो बातें खटकती थीं। एक तो वहाँ जाने वाले विलायती रंग में रंग जाते थे और अपनी भाषा, अपनी संस्कृति तथा अपनी सभ्यता को हीन समझने लगते थे। दूसरे, विलायत-यात्रा से देश का धन विदेश चला जाता था। 'विलायत-यात्रा' शीर्षक निबन्ध में वे लिखते हैं—''एक सिविल सर्विस के लिए जितना रुपया व्यय किया जाता है और एक साल जितने मनुष्य परीक्षा देने विलायत जाते हैं उतने रुपयों के यदि हमारे देश में कोई सद्व्यय होने लगे तो क्या ही आनन्द का विषय है'' (ग्रंथावली, पृ० 590)

स्त्रियों के प्रति मिश्र जी चाहे आधुनिक दृष्टि न रखते रहे हों पर अनुदार भी नहीं थे। उनके लिए स्त्री का ''पतिव्रता'' रूप श्रद्धा की वस्तु था। किन्तु वे यह भी चाहते थे कि पुरुष स्वयं भी एक स्त्री-व्रत निभाएँ। हम दूसरों से जैसे आचरण की आशा करते हैं, हमें स्वयं भी उसी के अनुरूप आचरण करना चाहिए। वे कहते हैं—''जिस देश में स्त्रियॉं विशेषतः पतिव्रता हो और पुरुष एक स्त्रीव्रत हो, उस देश की उन्नति में क्या बाधा हो सकती है। जिस गाड़ी के दोनों पहिए दृढ़ हों, उसके चलने में भी कोई अड़चन है?'' (ग्रंथावली, पृ. 189) ''ग्रामों के साथ हमारा कर्तव्य'' निबन्ध में वे गाँव वालों को यह

समझाने का आग्रह करते हैं कि "तुम्हारे घर की स्त्रियाँ बकरी भेड़ नहीं है, उनका भी सब बातों में उतना ही अधिकार है जितना तुम्हारा है, अतः उनको अनाद्रित रखना लोक परलोक दोनों में विडम्बना का कारण होगा। घर में कन्या का जन्म होना अभाग्य का चिह्न नहीं है, बराबर के कुल में उसे ब्याह देना कोई पाप नही है, केवल भ्रम के कारण घबरा उठना व्यर्थ है" (ग्रंथावली पृ. 399)। वे स्त्रियो की शिक्षा के भी समर्थक है और चाहते है कि जिस तरह पुरुषों के लिए पाठशालाये है उसी तरह स्त्रियों के लिए भी हों। वे लिखते है—"न जाने इतने देशभक्त, इतने व्याख्यानदाता, इतने पत्र सम्पादक स्त्रियों के सुधार मे बरसों से क्यों नही सन सकते ? पुरुषों के लिए सब कहीं पाठशाला, इनके लिए यदि हैं भी तो न होने के बराबर।" (ग्रंथावली, पृ. 205) मिश्र जी "पतिव्रता" को पूज्य मानते हुए भी "सती प्रथा" के उस अमानवीय स्वरूप के समर्थक नहीं थे जिसमें स्त्रियों को पति की मृत्यु के बाद उसकी चिता मे जलने के लिए विवश किया जाता था। वे लिखते है—"सती से हमारा यह प्रयोजन नही है कि खामखाह पति के साथ जल जाना चाहिए मुख्य सती वह है जो पति के विरह रूपी अग्नि में ऐसा दुःख अनुभव करे कि जीते जी मर जाने के समान।"

मिश्र जी देश भक्त होने के साथ ही राजभक्त भी थे। ऐसा नही लगता कि उनकी राजभक्ति दिखावा मात्र थी। उन्हे विश्वास था कि महारानी विक्टोरिया को देश की वास्तविक स्थिति का ज्ञान नहीं है। उनके प्रतिनिधि शासक उन्हें सही-सही जानकारी नही देते। यदि उन्हें प्रजा के कष्टों से अवगत कराया जाय तो वे देश के कल्याण का मार्ग प्रशस्त कर सकती हैं। 'ब्रैडला स्वागत' शीर्षक अपनी लम्बी कविता में भारतीयों की "राजभक्ति" प्रमाणित करते हुए वे कहते है—

जद्यपि कछु शक नाहिन इनकी राजभक्ति महँ।
मानहिं एक समान भूप कहँ अरु ईश्वर कहँ।।
दियो आरकट युद्ध माहिं प्रत्यक्ष दिखाई।
देशी जोधन माड़ पान करि करी लड़ाई।।
तन्दुल थोरे देखि दियो सब अँगरेजन कहँ।
आपु अमल मन प्रविशि परे रिपुगन सेना महँ।।
सन सत्तावन माँहि जबहिं कछु सेना बिगरी।
तब राजा दिशि रही सुदृढ़ ह्वै परजा सिगरी।।
दुष्ट समुझि अपने भाइन कहँ साथ न दीन्हों।
भोजन बिन विद्रोहन का दल निरबल कीन्हों।।
ठौर ठौर निज घर लुटवाये अरु फुँकवाये।
प्रान खोय बहु ब्रिटिश वर्ग के प्रान बचाए।।
पक्ष पात प्रिय लोग कहैं कहिबो जो चहहीं।

पै साँचे भूपाल भक्त भारत सुत अहहीं॥
पै सरकारहिं केहि प्रकार कोऊ समुझावै।
महरानिहिं केहि भाँति करेजो काढ़ि दिखावै॥

'ब्राह्मण' खण्ड 5 सं. 2 में 'हम राजभक्त हैं' शीर्षक एक छोटे से लेख मे भी मिश्र जी ने लिखा है—"हम साहंकार कह सकते हैं कि हम निस्सन्देह सच्चे राजभक्त हैं। हमारे समान कोई विरली ही जाति राजभक्त होगी।" (ग्रथावली, पृ. 213) 'भारतेन्दु' ने भी आरंभ में महारानी विक्टोरिया के प्रति राजभक्ति सम्बन्धी ऐसे ही उद्‌गार व्यक्त किए हैं, उन्होंने संस्कृत के पाँच श्लोको में श्री राजराजेश्वरी की स्तुति की है और उर्दू में गजल लिखकर मुबारकबाद दिया है। यही नहीं उन्होंने भगवान वामन से उनकी समता करते हुए लिखा है—

जिमि बावन के पद तलैं चौदह लोक लखात।
तिमिभुव तुव अधिकार मोहि बिस्वे बीस जनात॥

महारानी विक्टोरिया की प्रशंसा में चौधरी 'प्रेमधन' ने भी लिखा है—

यद्यपि तिहारे राज भयो भारत अति उन्नत।
आगे सों अब सब कोइ सब विधि सुख पावत॥

इन उद्‌गारों में छद्‌म की गंध नही आती। वस्तुतः कम्पनी के स्वार्थपूर्ण कठोर शासन के बाद महारानी विक्टोरिया द्वारा भारत का शासन अपने हाथ में लिए जाने पर उनसे न्याय पूर्ण व्यवहार की आशा जागृत हुई थी। इसका कारण उनका 1 नवंबर 1858 ई. का घोषणा पत्र था जिसमें उन्होंने मधुर शब्दों में सभी वर्गों के लोगों के अधिकारों की रक्षा का आश्वासन दिया था। इसीलिए उस युग के प्रायः सभी कवियों ने राजभक्ति के उद्‌गार प्रकट किये हैं किन्तु इन उद्‌गारों के साथ ही इस युग के प्रायः सभी कवियों ने देश की दुर्दशा के चित्र भी प्रस्तुत किए हैं। इससे यह स्पष्ट है कि वस्तुतः वे देश की भलाई चाहते थे। उन्हें विश्वास था कि महारानी न्याय-प्रिय है और वे भारतीय प्रजा के साथ वैसा ही व्यवहार करेंगी जैसा इंगलैंड की प्रजा के साथ करती हैं किन्तु जैसे-जैसे उनका मोह-भंग होता गया वैसे-वैसे उनका स्वर भी बदलता गया। मिश्र जी ने 'ब्रैडला स्वागत' में देश की दुर्दशा का जो चित्र खीचा है वह रोंगटे खड़ा कर देने वाला है। देश के प्रति उनके मन में कितना गहरा प्रेम था, यह कविता इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। उन्होंने लिखा है कि जहॉ कभी सोना बरसता था वहॉ एक चौथाई लोग रूखी रोटी के लिए तरस रहे हैं, जामुन की गुठली और वृक्षों की छाल का चूर्ण ज्वार के आटे में मिलाकर परिवार का पालन करते हैं। प्रजा को नमक, तेल, लकड़ी और घास पर भी टैक्स देना पड़ता है। जहाँ बड़े-बड़े राजा कर्ज के भार से दबे हैं वहाँ साधारण जनता की विपन्नता के बारे में क्या कहा जाये? जो अँग्रेज यहाँ शासन के लिए भेजे जाते हैं वे भोग-विलास में लगे रहते हैं। प्रजा की स्थिति को जाने बिना मनमाने ढंग से स्याह-सफ़ेद करते रहते हैं। प्रजा नहीं जानती

है कि कौन सा कानून कब किस लिए बनाया गया है किन्तु उसे कानूनों के बन्धन में कसा जाता है। बिना सिफारिश के किसी को कोई नौकरी नहीं मिलती। सैनिकों में भी गोरे-काले का भेद किया जाता है। भारतीय प्रजा सदैव राजभक्त रही है किन्तु हमारी राजभक्ति पर भी सन्देह किया जाता है। जो लोग पुलिस से चोरी-डकैती की शिकायत करने जाते हैं, उल्टे उन्हीं पर आफ़त आ जाती है। बिना कुछ भेंट चढ़ाये उनका निस्तार नहीं होता। मिश्र जी ने स्वागत के बहाने ब्रैडला साहब से वह सब कुछ कह दिया है जिसे सामान्यतः किसी भी बड़े अँग्रेज़ अधिकारी के सामने कहने का साहस कोई व्यक्ति नहीं कर सकता था। उन्होंने भारतीयों की आर्थिक विपन्नता का वर्णन अनेक अवसरों पर किया है और बार-बार यह दुहराया है कि अँग्रेज़ों के शासन में देश का धन विदेश जा रहा है। "द" शीर्षक निबन्ध वे लिखते हैं—"वहाँ" के चतुर लोगों ने बड़ी दूरदर्शिता करके इस अक्षर के ठौर पर "डकार" अर्थात् "डी" रखी है, जिसका अर्थ ही डकार जाना अर्थात् यावत् संसार की लक्ष्मी, जैसे बनै वैसे, हज़म कर लेना। जिस भारत लक्ष्मी को मुसलमान सात सौ वर्ष में अनेक उत्पात करके भी न ले सके उसे उन्होंने सौ वर्ष में धीरे-धीरे ऐसे मजे के साथ उड़ा लिया कि हँसते-खेलते विलायत जा पहुँची।" (ग्रंथावली, पृ. 131) देश को इस दुर्दशा से बचाने का उपाय क्या है? यह भारतेन्दु-काल के सभी साहित्यकारों के सामने एक ज्वलंत प्रश्न था। उन्होंने जो कुछ सोचा-विचारा और लिखा है, वह मूलतः इसी प्रश्न का उत्तर है। समाज-सुधार, अपनी परंपरा और संस्कृति से प्रेम, अपनी भाषा का प्रचार, साम्प्रदायिक सद्भाव और एकता, देशी वस्तुओं का उपयोग और देश-हित में राज-प्रबन्ध-शोधन के लिए सम्मिलित प्रयास, यही वे खास मुद्दे थे जिन पर उन्होंने बल दिया है। मिश्र जी ने भी अपने निबन्धों, नाटकों और कविताओं में इन्हीं बातों पर बल दिया है। सन् 1885 ई. में जब श्री ए ओ. ह्यूम के प्रयत्न से शासक और शासित दोनों के हितों की रक्षा के लिए "भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस" का एक वैधानिक विरोधी पार्टी के रूप में जन्म हुआ तो मिश्र जी ने खुलकर उसका स्वागत किया। उन्हें लगा कि देश-हित मे जिस प्रकार के संघटित प्रयत्न की कल्पना उनके मन में थी वह साकार हो गई है। उन्होंने "कांग्रेस की जय" शीर्षक कविता लिखी और उसे साक्षात् दुर्गा का स्वरूप माना। इसी शीर्षक से उन्होंने एक निबन्ध भी लिखा। कांग्रेस के प्रयाग अधिवेशन में मुसलमानों के भी सम्मिलित होने पर उन्होंने प्रसन्नता जाहिर की और लिखा—"धन्य है, लोग समझते थे कि मुसलमान उसमे कभी शरीक न होंगे, सो एक से एक प्रतिष्ठित विद्वान् धनिक मुसलमान, अनुमान तीन सौ के विराजमान थे। वरंच बाजे नगरों से हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमान ही अधिक आए थे। भला इन बातों को आँखों देख के वा विश्वासपात्रों से सुनके कौन न कह उठेगा कि "कांग्रेस की जय" (ग्रंथावली, पृ. 242) 'प्रयाग अधिवेशन' के पहले काँग्रेस के तीन अधिवेशन हो चुके थे। पहला 'बम्बई' में दूसरा, 'कलकत्ता' में और तीसरा 'मद्रास' में। मिश्र जी ने 'मद्रास' और 'प्रयाग' अधिवेशनों

में कानपुर का प्रतिनिधित्व किया था। मिश्र जी के समकालीन लेखकों में बालकृष्ण भट्ट ने कांग्रेस का विरोध किया था किन्तु यह विरोध सन् 1898 ई. में किया गया था। उस समय तक कांग्रेस की स्थापना के तेरह वर्ष व्यतीत हो चुके थे। उसका चरित्र स्पष्ट होकर सामने आ गया था। देश के क्षितिज पर बालगंगाधर तिलक का उदय हो चुका था। उन्हें अँग्रेजों की उदारता और न्याय-प्रियता में तनिक भी विश्वास नहीं था। कॉंग्रेस पर गोखले का प्रभाव था। वे सुधारवादी थे। उन्हें ब्रिटिश शासन की उदारता पर विश्वास था। ऐसी स्थिति में उग्र राष्ट्रीय विचारों वाले नेता और साहित्यकार कांग्रेस-संगठन को संदेह की दृष्टि से देखने लगे थे। यहाँ स्मरणीय है कि बाबू बालमुकुन्द गुप्त जैसे कट्टर राष्ट्रीयतावादी ने भी आरंभ में भारत-हितैषी अँग्रेजो—ब्रैडले, ग्लैडस्टोन, जान ब्राइट, केनिग और रिपन—की प्रशसा की थी। उन्होंने अपने पहले चिट्ठे मे लार्ड कर्जन को सम्बोधित करते हुए लिखा था—"माई लार्ड! आपकी मूर्ति की वहाँ क्या शोभा होगी? आइये मूर्तियाँ दिखावें। वह देखिये एक मूर्ति है, जो किले के मैदान में नहीं है, पर भारतवासियों के हृदय में बसी हुई है। पहचानिये, इसी वीर पुरुष ने मैदान की मूर्ति से इस देश के करोड़ों गरीबों के हृदय में मूर्ति बनवाना अच्छा समझा। यह लार्ड रिपन की मूर्ति है।" (गुप्त निबन्धावली, प्र. भा., पृ. 181) कुछ दिनों के बाद उनका मोह-भंग हो गया था। हो सकता है यदि मिश्र जी 1900 ई. तक जिन्दा रहते तो उनका भी मोह भग हो गया होता। फिलहाल हम यही कह सकते हैं कि मिश्र जी सच्चे देश-भक्त थे और उनके राजनीतिक विचार उदारवादी थे।

मिश्र जी का भाषा और साहित्य के सम्बन्ध में भी निश्चित मत था। वे हिन्दी के प्रबल समर्थक थे। वे चाहते थे कि पूरे देश में हिन्दी का प्रचार हो और वह ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा का माध्यम बने। हिन्दी-प्रेम उनके लिए देश-प्रेम का पर्याय था। वे अन्य भाषाओं के विरोधी नहीं थे। वे स्वयं उर्दू, फारसी, संस्कृत, बंगला और अँग्रेजी अच्छी तरह लिख पढ़ लेते थे किन्तु हिन्दी उनके लिए सर्वोपरि थी। देश के कल्याण के लिए वे हिन्दी-ज्ञान को पहला स्थान देते थे। यद्यपि उन्होंने काव्य या अन्य साहित्य-विधाओं के सम्बन्ध में कोई सैद्धान्तिक निबन्ध नहीं लिखा है किन्तु समकालीन साहित्यिक रचनाओं की जो आलोचना उन्होंने 'ब्राह्मण' मे प्रकाशित की है,उससे उनके साहित्यिक दृष्टिकोण को अच्छी तरह समझा जा सकता है। अम्बिकादत्त व्यास की "ललिता नाटिका" की आलेचना करते हुए उन्होंने लिखा है—"कथा-प्रबन्ध इसका ऐसा है कि न तो उससे कोई सदुपदेश ही निकलता है न किसी रस का कुछ असर ही जी पर होता है।" (प्रताप नारायण मिश्र की हिन्दी गद्य को देन, पृ. 139 पर उद्धृत) व्यास जी के ही 'भारत सौभाग्य' नाटक के विषय में आप लिखते हैं—"यद्यपि नाटकीय दोषों से रहित नहीं है पर कविता मनोहारिणी है और देश के स्नेह से पूर्ण है, विशेषतया एण्टी कांग्रेस वालों के मनोभाव बड़ी अच्छी तरह दिखाये गए हैं।" (वही, पृ 141) बाबू राधाकृष्ण दास रचित 'पद्मावती'

नाटक के सम्बन्ध में आपका कथन है—"श्री राधाकृष्ण दास जी के 'महारानी पद्मावती' नाटक में जो बात है अद्वितीय है। इधर आर्य वीरों की धर्मनिष्ठता, देश वत्सलता इत्यादि वास्तविक सद्गुण एवं आर्य रमणीगण का पतिव्रत, कार्यकौशल, दृढ़ता आदि सच्चे उदार चरित्र और उधर म्लेच्छाधम वर्ग की स्वार्थपटुता तुच्छमनस्कता, लम्पटता, निर्लज्जता, बंचकता, प्रभृति घृणित कर्मो के ठीक-ठीक फोटोग्राफ देख के किस सहृदय के हृदय में अलौकिक भाव न उत्पन्न हो जायेंगे।" (वही, पृ. 143) उपर्युक्त आलोचनाओं पर ध्यान देने से स्पष्ट है कि मिश्र जी साहित्यिक रचनाओं में उपदेशात्मकता, देश-प्रेम, और शील के उत्कर्ष को महत्त्व देने के पक्ष में हैं। इसके साथ ही वे रसात्मकता और मनोहरता को भी आवश्यक मानते हैं। यह दृष्टि सन्तुलित कही जा सकती है। देश और समाज को प्रेरित और प्रभावित करने मे साहित्य की भूमिका उन्हें स्वीकार्य है और एक सच्चे देश भक्त के नाते वे साहित्यकार को सामाजिक दायित्व के प्रति सचेष्ट देखना चाहते हैं।

महत्त्व और मूल्य

किसी भी रचनाकार का महत्त्व और मूल्य इस बात पर निर्भर करता है कि उसने अपने समसामयिक और परवर्ती रचनाकारों के हृदयों पर कितनी गहरी छाप छोड़ी है और अपने पाठकों से कितना मान-सम्मान पाया है। फूल के सूख जाने पर भी वातावरण में उसकी गंध रह जाती है। रचनकार के दिवंगत हो जाने पर भी उसकी कहानी रह जाती है। उसके विचार और भाव, रह जाते हैं। उसकी निष्ठा और आस्था रह जाती है। प्रताप नारायण मिश्र को दिवंगत हुए लगभग 98 वर्ष हो गये है किन्तु आधुनिक हिन्दी-साहित्य के उन्नायकें की चर्चा होते ही यदि "भारतेन्दु" "कनिष्ठिका पर अधिष्ठित होते हैं तो प्रताप नारायण मिश्र "अनामिका" पर बालमुकुन्द गुप्त जैसे विवेकशील और प्रखर रचनाकार ने तो उसी समय कहा था—"हिन्दी-साहित्य के आकाश में हरिश्चन्द्र के उदय होने के थोड़े ही दिन पश्चात् एक ऐसा चमकता हुआ तारा उदय हुआ था, जिसकी चमक-दमक देखकर लोग उसे दूसरा चन्द्र कहने लगे थे। उस चन्द्र के अस्त हो जाने के पश्चात् इस तारे की ज्योति और बढ़ी। बड़े हर्ष के साथ कितनो ही के मुख से यह ध्वनि निकलने लगी कि यही उस चन्द्र की जगह लेगा पर दुःख की बात है कि वैसा होने से पहले ही कुछ दिन बाद यह उज्ज्वल नक्षत्र भी अस्त हो गया।" श्री बालकृष्ण भट्ट उम्र में मिश्र जी से लगभग 12 वर्ष बड़े थे किन्तु उनके महत्त्व को स्वीकारते हुए उन्होंने कहा था— "प्रातः स्मरणीय बाबू हरिश्चन्द्र को जो हिन्दी का जन्मदाता कहें तो प्रताप नारायण मिश्र को निस्सन्देह उस स्तनअन्धया दुधमुही बालिका का पालन-पोषण कर्ता कहना ही पड़ेगा"। (हिन्दी गद्य के निर्माता पं. बालकृष्ण भट्ट, पृ. 129) बालिका हिन्दी के पालन-पोषण कर्ता प्रताप नारायण मिश्र ने अनेक रूपों मे उसकी सेवा की थी। वे सम्पादक, निबन्धकार, नाटककार, अनुवादक, आदि कई रूपों में हमारे सामने आते है। साहित्य के इन सभी क्षेत्रों मे उनका महत्त्व स्वीकार किया गया है।

एक समर्पित सम्पादक के रूप में उनके लम्बे संघर्ष की कहानी इतिहास की वस्तु बन चुकी है। उन्होंने परवर्ती सम्पादकों के लिए जो आदर्श प्रस्तुत किया था वह अनुकरणीय है। उनकी पत्रकारिता की सबसे बड़ी विशेषता उसकी संवेदनशीलता है। मिश्र जी अपने समय के सबसे अधिक संवेदनशील पत्रकार हैं। सामान्यतः यह समझा जाता है कि पत्रकारिता का सम्बन्ध मुख्यतः युग-विशेष से होता है जबकि साहित्य की मूल प्रकृति

सर्वयुगीन होती है। पत्रकार युग-विशेष की चेतना को अभिव्यक्ति देता है जबकि श्रेष्ठ साहित्यकार का लक्ष्य युग-युग की चेतना को अभिव्यक्ति देना होता है। इसमें सन्देह नहीं कि पत्रकार के रूप में मिश्र जी ने भी अपने युग की चेतना को ही महत्त्व दिया है। उनके सामने सबसे बड़ी समस्या देश की विपन्नता थी। मूल कारण था अंग्रेज़ों की धन-लिप्सा और अन्याय पूर्ण शासन-पद्धति। वे अंग्रेज़ों के शोषण से अपने देश को मुक्त करना चाहते हैं। इसके लिए वे सभी प्रकार के भेद-भाव से ऊपर उठकर पूरे देश की जनता को संघटित होने की राय देते हैं। अंग्रेज़ों के निष्ठुर शोषण और देश की घोर आर्थिक दुर्दशा को उस युग के प्रायः सभी सात्यिकारों ने पहचाना है। शोषण के विरुद्ध सबसे पहले भारतेन्दु ने ही अपना स्वर मुखर किया है किन्तु इस विरोध के पीछे जो दर्द है, जो पीड़ा है, जो कचोट और तड़प है, उसकी सबसे गहरी अनुभूति प्रताप नारायण मिश्र को हुई है। असन्तोष, आक्रोश और क्षोभ सबको है किन्तु मिश्र जी की बेचैनी बेजोड़ है। यह उनके अत्यधिक संवेदनशील होने का प्रमाण है। उनके सम्पादक-व्यक्तित्व की यही विशेषता उन्हें दूसरों से अलग कर देती है। यह दर्द पीड़ित और शोषित जनता का दर्द है। जब तक समाज में उत्पीड़न और शोषण है, जब तक अभाव और दरिद्रता है, यह दर्द बना रहेगा। इसलिए युग-विशेष से सम्बद्ध होते हुए भी मिश्र जी का दर्द युग-युग का दर्द है। यह दर्द उनके साहित्य की केन्द्रीय चेतना है। उनका रचना-कर्म उनके संपादन-कर्म से अभिन्न है। इसलिए एक संपादक के रूप में उन्होंने जो कुछ लिखा है उसमें युग-चेतना के साथ ही युग-युग की चेतना भी व्यक्त हुई है। उनका संपादन न तो व्यावसायिक है न यांत्रिक; न वह सत्ता का समर्थक है, न पूँजी का गुलाम। वह जनता का पक्षधर है और उसमें जनता के हृदय की धड़कन सुनी जा सकती है। इसलिए उसका महत्त्व और मूल्य आज भी अक्षुण्ण है।

हिन्दी का सामान्य पाठक मुख्यतः मिश्र जी के गद्य-साहित्य से परिचित है। निस्सन्देह उनका गद्य-साहित्य महत्त्वपूर्ण है किन्तु उनका कवि-रूप भी कम महिमामय नहीं है। उनके गद्य-साहित्य पर विचार करने के पहले हम उनके कविरूप का मूल्यांकन करना चाहेंगे।

मिश्र जी का कवि-व्यक्तित्व अभी तक प्रायः उपेक्षित रहा है। उनके निबन्धों का इतना प्रचार हुआ कि हिन्दी के सामान्य पाठक वर्ग ने उन्हें मात्र निबन्ध लेखक और गद्यकार मान लिया जबकि सच्चाई यह है कि मिश्र जी जितने सिद्ध गद्यकार और निबन्ध-लेखक है उतने ही सिद्ध कवि भी। बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने उनके विषय में लिखा है—"जिस गुण में वह कितनी ही बार हरिश्चन्द्र के बराबर हो जाया करते थे, वह उनकी कवित्व शक्ति और सुन्दर भाषा लिखने की शैली थी।...वह बातें करते-करते कविता करते थे, चलते-चलते गीत बना डालते थे"। (बाबू बालमुकुन्द गुप्त के श्रेष्ठ निबन्ध, चिट्ठे और खत-पृ. 66) मिश्र जी की कविताएँ समग्र रूप से सम्पादित होकर हिन्दी-पाठकों के सामने बहुत दिनों तक नहीं आई थीं। उनकी कविताओं का पहला संकलन 1949 ई. में नारायण

प्रसाद अरोड़ा ने "प्रताप लहरी" नाम से प्रकाशित कराया था। उसके बाद अब 1987 ई. मे 'हिन्दी-साहित्य सम्मेलन,' प्रयाग से नरेशचन्द्र चतुर्वेदी द्वारा संपादित "प्रताप नारायण मिश्र कवितावली" प्रकाशित हुई है। उनके कवि रूप के उपक्षित होने का एक बड़ा कारण यह भी था। वास्तविकता तो यह है कि अभी उनकी बहुत-सी कविताएँ हमारे सामने नहीं हैं किन्तु जो भी हैं उनके आधार पर हम मिश्र जी के कवि-व्यक्तित्व का मूल्याकन कर सकते हैं।

मिश्र जी के काव्य-गुरु ललित कवि ने उन्हें रीतिकालीन परम्परा के अनुसार काव्य-रीति की शिक्षा दी थी। मिश्रबंधुओं ने इनकी एक रचना 'शृंगार विलास' का उल्लेख किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी लिखा है—"पंडित प्रताप नारायण जी समस्यापूर्ति और पुराने ढंग की शृंगारी कविता बहुत अच्छी करते थे।" "शृंगार विलास" निश्चय ही ब्रजभाषा की शृगारी कविताओ का संग्रह होगा। भारतेन्दु-काल के साहित्यकारों का एक चरण रीतिकाल में और दूसरा आधुनिक काल में था। स्वयं "भारतेन्दु" और उनके अन्य सहयोगियों—अम्बिकादत्त व्यास, ठाकुर जगमोहन सिंह, बदरीनारायण चौधरी, प्रेमधन—ने रीतिकाव्य की परम्परा का निर्वाह करते हुए ब्रजभाषा में नायिका-भेद की कविताएँ लिखी हैं। मिश्र जी द्वारा रचित एक कवित्त में नायिका के हाव-भावों का एक अत्यन्त मनोरम चित्र देखिए—

छनक लजौहैं सतरौहैं ह्वै छनक नैन
छनक हसौंहैं ह्वै अनन्द उमहत हैं।
हाँ-हाँ नहीं रस भरे बैन परताप छन,
कहि आवैं एक छन मुख ही रहत हैं।।
मन्द मुसुकान भौंह नासिका की मुर जानि
देखिबे मैं स्वादित सुधाहुँ सो महत हैं।
गोरस के हेत ज्यों-ज्यों हठति पियारी त्यों-त्यों,
जो रस चहत लाल सो रस लहत हैं।।

—ब्राह्मण खण्ड 3, सं. 5

मिश्रबन्धुओं द्वारा उद्धृत मिश्र जी का निम्नलिखित सवैया भी अपनी सरसता में अप्रतिम है—

सिर चोटी गुंथावती फूलन सों मेंहदी रचि हाथन पावन में
परताप त्यों चूनरी सूही सजी मन मोहनी हावन भावन मैं।
निसि घोस बितावती पीतम के संग झूलन में औ झुलावन में;
उनही को सुहावन लागत है धुरवान की धावन सावन में।।

—मिश्र बन्धु विनोद, तृ.भा.पृ. 1262

शीघ्र ही मिश्र जी की मानसिकता में परिवर्तन हुआ। उन्होंने 'भारतेन्दु' को आदर्श माना और उनका काव्य नव-युग की नवीन चेतना की अभिव्यक्ति का माध्यम बना। देश की दुर्दशा ने उनका ध्यान आकृष्ट किया और उनकी कविताएँ उसी मानसिकता से जुड़ गईं जिस मानसिकता में उनके निबन्ध लिखे जा रहे थे। जिस प्रकार अपने निबन्धों में मिश्र जी किसी विषय पर विचार करते हुए देश की आर्थिक दुर्दशा, आपसी फूट, नैतिक पतन, और सामाजिक कुरीतियों की ओर ध्यान आकृष्ट करने के लिए अवसर निकाल लेते हैं, उसी प्रकार अपनी कविताओं मे भी विषय से हटकर वे देश की दुर्दशा और विपन्नता के चित्र खींचने का अवसर निकाल लेते है। कविता चाहे ''वर्षा के आह्वान'' पर हो या ''होली पर'', वे ब्रैडला और युवराजकुमार प्रिंस ऑफ वेल्स का स्वागत कर रहे हों या कांग्रेस अधिवेशन का वर्णन, चाहे स्वयं भगवान से प्रार्थना कर रहे हों, चाहे पशुओं के माध्यम से, सर्वत्र देश की विपन्नता, अशिक्षा, शोषण, और जनता की दारुण दशा का यथार्थ चित्र अवश्य अंकित करते हैं। उनकी दो लम्बी कविताएँ ''ब्रैडला स्वागत'' और ''तृप्यन्ताम्'' बहुत चर्चित हुई हैं। ''ब्रैडला स्वागत'' में जहाँ उन्होंने भारतीयों की परम्परागत राजभक्ति का उल्लेख करते हुए महारानी विक्टोरिया में निष्ठा व्यक्त की है वहीं देश के एक चौथाई लोगों के सूखी रोटी के लिए तरसने, अनेक लोगों के ज्वार के आटे में जामुन की गुठली और वृक्षों के चूर्ण मिलाकर किसी तरह पेट पालने, शासन द्वारा तरह-तरह के टैक्स, कर और चन्दा लगाए जाने, शासकों के विलासी और हाकिमों के स्वेच्छाचारी होने, बिना सिफारिश योग्य व्यक्तियों को भी नौकरी न मिलने, पुलिस के निरंकुश होने तथा जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में गोरों और कालों में भेद-भाव बढ़ते जाने का सजीव वर्णन भी किया है। इस कविता के पीछे मिश्र जी के हृदय का जो दर्द छिपा है वह अनुभव करने की वस्तु है और वास्तविकता को सामने लाने में उन्होंने जिस साहस का परिचय दिया है, वह श्लाध्य है। इस कविता की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

**''तब लखिहौ जहँ रह्यो एक दिन कंचन बरसत।
तहँ चौथाई जन रूखी रोटी कहँ तरसत॥
जहँ जामुन की गुठली अरु बिरछन की छालैं।
ज्वार चून महँ पेलि लोग परिवारहिं पालैं॥
लोन तेलु लकरी घासहु पर टिकस लगै जहँ।
चना चिरौजी मोल मिलै जहँ दीन प्रजा कहँ॥
जहाँ कृषी वाणिज्य शिल्प सेवा सब माहीं।
देसिन के हित कछू तत्त्व कैसेहू नाहीं॥
चलत जिते कानून इहाँ उनकी गति न्यारी।
जस चाहहिं तस फेरि सकहिं तिन कहँ अधिकारी॥**

बड़े-बड़े वारिस्टर बहुधा बकि-बकि हारैं।
पै हाकिम जस-जस जिय चाहैं तस करि डारैं।।
गौर श्याम रंग भेद-भाव अस दस दिसि छायो।
जिहिं नेटिव नामहिं कहँ तुच्छ प्रतिच्छ दिखायो।।
वे वधहू करि कबहुँ- कबहुँ कोरे बचि जाहीं।
पै ये नेकहुँ लकुट लेत हू धमकी खाहीं।।
चोरी चोर डकैत पता कब कौन लगावै।
उलटो धन के स्वामी पर आपद इक आवै।।
तासु परोसी इष्ट मित्र गन त्रासे जाहीं।
विथित भए बिन भेट दये बिन छूटत नाहीं।।
कहा कहिय कहि जात न ह्यौं की अकथ कथा है।
जब कबहूं ऐहो रैहो पैहो तब थाहै।।

—'प्रताप नारायण मिश्र कवितावली', पृ. 32-35

''तृप्यन्ताम्'' कविता आल्हा छन्द में लिखी गई है और लगभग 13 पृष्ठों में समाप्त हुई है। मध्याह्न स्नान के बाद हाथ या अर्घ से देव, ऋषि और पितरों को जल देकर तृप्त करने की क्रिया को तर्पण कहते हैं। मिश्र जी ने ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, प्रजापति, देवि दुर्गा, नाग देवता, मुनिगण, गंधर्वगण, ऋषिगण, भूतगण, सागर, पर्वत, वनस्पति तथा पिता, पितामह, प्रपितामह, माता, दादी, परदादी आदि का आह्वान करके उनके समक्ष देश की दुर्दशा और देशवासियों के पतन का चित्र प्रस्तुत करते हुए यह दिखाया है कि सब प्रकार से अभावग्रस्त हम भारतवासी आज क्या देकर आपका तर्पण करें। परतन्त्र भारत के पास अपना कुछ भी नहीं बचा है। लोग पेट के गुलाम बन गए हैं। अपना धर्म, धन, बल, विद्या, बुद्धि, नेम, प्रेम, सब कुछ खोकर हम सब प्रकार असमर्थ हैं। जिस वाणी से हम शासकों की खुशामद करते हैं उससे हम देवों और पितरों को ''तृप्यन्ताम्'' कैसे कह सकते हैं? गुलाम हाथों से पितरों का तर्पण करना और गुलाम सिर को उनके सामने झुकाना कितना लज्जास्पद है। पूरी कविता कवि के अन्तस्तल में विद्यमान गहरे दर्द का अहसास कराती है। हास्य और व्यंग्य की ऊपरी सतह के नीचे इसमें जो मर्मान्तक व्यथा छिपी है वह शब्दों में व्यक्त नहीं हो सकती। जब कवि ऋषियों से कहता है कि अब तो आँसुओं के जल के अतिरिक्त हमारे पास कुछ नहीं है, नाग देवता से कहता है कि यहाँ दूध की कौन कहै साग-पात भी नहीं मिलता है, पिशाचों से कहता है कि यदि रक्त की एक बूँद भी मिल जाय तो उसी से सन्तोष कीजिए और मृत्यु देवता से कहता है कि बस आपकी तृप्ति का पूरा विधान बन चुका है और देवता लोग चाहे अतृप्त रह जायँ आप अतृप्त नहीं रहेंगे क्योंकि विविध प्रकार के आर्थिक शोषण, पुलिस, अदालत आदि से किसी प्रकार

हमारे प्राण बच भी जायँ तो शासकों की गोली से नहीं बच सकते, तो उसके हृदय की व्यथा शब्दों के साथ ऊपर छलक आती है।

उदाहरण देखिए—

खोय धर्म धन बल बुधि विद्या, नेम प्रेम आदिक गुण-ग्राम।
पाप पखंड अविद्या आलस, औगुन के बनि रहे गुलाम।।
यहि गति देखहु निज बंसिन की, सब विधि बोरि रहे तब नाम।
हृदय होय तो होहु सबै ऋषि आँसुन के जल तृप्यन्ताम्।।
महँगी और टिकस के मारे हमहिं क्षुधा पीड़ित तन छाम।
साग पात लौं मिलै न जिय भरि, लेबो वृथा दूध को नाम।।
तुम्हैं कहा प्यावैं जब हमरो कटत रहत गोवंश तमाम।
केवल सुमुखि अलक उपमा लहि, नाग देवता तृप्यन्ताम।।
ठौरहिं ठौर मसान परे हैं, मरे डरे हैं मृतक तमाम।
इनके शिर कन्दुक क्रीड़ा हित, तुमहिं दये शंकर सुख धाम।।
सुख सों खेलहु खाहु सजहु तन, जो कुछ मिलै हाड़ औ चाम।
लही जु एकौ बूँद रकत तौ बासि पिशाचकुल तृप्यन्ताम।।
लैसन इनकम चुंगी चन्दा पुलिस अदालत बरसा घाम।
सब के हाथन असन बसन, जीवन संसय मय रहत मुदाम।।
जो इनहू ते प्रान बचै तो गोली बोलति आय धड़ाम।
मृत्यु देवता नमस्कार तुम, सब प्रकार बस तृप्यन्ताम।।

—प्रताप नारायण मिश्र कवितावली, पृ. 38-45

इन्हीं यथार्थवादी कविताओं की परम्परा में हम उनके "लोकोक्तिशतक" को भी रख सकते है जिसमें गाँवो में प्रचलित कहावतों को लेकर अनेक प्रकार के छन्दों की रचना की गई है। इनका व्यंग्य बहुत तीखा किन्तु सोद्देश्य है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

पढ़ि कमाय कीन्हो कहा, हरे न देस-कलेस।
जैसे कन्ता घर रहे, तैसे रहे विदेस।।
सर्वसु लिए जात अँगरेज, हम केवल लेक्चर के तेज।
श्रम बिन बातैं का करती हैं, कहुँ टटकन गाजैं टरती हैं।।

देश को दुर्दशा से मुक्त करने का एक ही उपाय मिश्र जी को समझ में आता था, और वह था—देश की जनता का संघटित होकर उठ खड़ा होना। इसलिए जब सन् 1885 ई. में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का संघटन हुआ तो मिश्र जी को आशा की किरण दिखाई देने लगी। उन्हें लगा कि जैसे सारे देवताओं का तेज दुर्गा के रूप में मूर्त हो उठा था वैसे ही सारे भारत की संघटित शक्ति कांग्रेस के रूप में मूर्त हो उठी है। इसलिए उन्होंने "कांग्रेस

की जय'' शीर्षक कविता लिखी—

जय जयति राज प्रबन्ध शोधन हेतु वरु वपु धारिनी।
जय जयति भारत की प्रजा उर एकता संचारिनी॥
मल अमल आदि अनेक गुणमय एक जग वपु धारिनी।
जय जयति भगवति कांगरेस असेस मंगल कारिनी॥
नव कोटि मूरति आछतहु जब देखिए तब एक हैं।
जिन महँ सबै सुर वृन्द तेज नितै इकत्र अनेक हैं॥
इमि देवि दुर्गा रूप सों, जग की विपत्ति निवारिनी।
जय जयति भगवति काँगरेस असेस मंगल कारिनी॥

—'प्रताप नारायण मिश्र कवितावली'' पृ. 21-22

इनके अतिरिक्त मिश्र जी की कुछ अन्य काव्य-प्रवृत्तियाँ भी हमारा ध्यान आकृष्ट करती हैं। ''भारतेन्दु'' की भाँति उन्होंने भी अनेक प्राचीन कवियों का अनुकरण करते हुए उन्हीं की भावधारा और उन्हीं के छन्द-विधान को स्वीकार करके रचनाएँ की हैं। मिश्र जी का विद्यापति के अनुकरण पर लिखा हुआ ''वसंत वर्णन'' कबीर और सूर के अनुकरण पर लिखे गये 'भक्ति परक गीत' तथा तुलसी के अनुकरण पर स्तोत्र शैली में लिखी 'ईश वन्दना' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 'ईश वन्दना' तो तुलसी की 'विनय पत्रिका' के आरंभिक स्तोत्रों की याद दिला देती हैं। कुछ पंक्तियाँ देखिए

जयति सर्वज्ञ सवेश सर्वत्रगत सच्चिदानन्द आनन्द दाता।
ब्रह्म विश्वेश विज्ञानि वल्लभ विशद विष्णु विभु विश्व विद्या विधाता॥
तीव्र त्रैताप तापित परित्राण रत सर्वदा साधु संकष्ट हर्त्ता।
सर्वथा सेव्य सम्पूर्ण संशय शमन भाव्य भगवान भुवनैक भर्त्ता॥

उपर्युक्त पंक्तियों की समास-गुंफित पद-योजना और औदात्य देखकर सहसा विश्वास नहीं होता कि वे वही मिश्र जी हैं जिन्होंने ''लोकोक्तिशतक'' लिखा है। सभी देवताओं के प्रति पूज्य भाव रखने के कारण मिश्र जी ने शिव, राम, कृष्ण, दुर्गा सभी की स्तुति की है और कृष्ण एवं काली में अभेद भी स्थापित किया है। इससे उनकी धार्मिक उदारता की सूचना मिलती है।

मिश्र जी ने लोक-चेतना का महत्त्व स्वीकार करके अनेक सरस लोक गीतों की रचना की है। उनके ''होरी'' और ''कजली'' गीत लोक-प्रसिद्ध हैं। उन्होंने ''होरी'' गीत अधिक लिखे हैं। उनकी कजलियां शृंगार प्रधान है किन्तु ''होरी'' में विषय, भाषा, छन्द और शैली सभी में वैविध्य है। लोक-गीतों का परम्परा में ही हम ''आल्हा'' छन्द को रख सकते हैं जो यद्यपि शुद्ध लोक-गीत तो नहीं है किन्तु गाँवों में लोक-गीतों की तरह प्रचलित है। मिश्र जी को आल्हा छन्द सिद्ध था। इस छन्द में लिखी उनकी ''कानपुर माहात्म्य''

कविता अपने तीखे व्यंग्य और यथार्थवादी वर्णन के लिए प्रख्यात है। उनके समय में शहरों में लावनी बाजों की धूम थी। 'संगीत राग कल्पद्रुम' में 'लावनी' एक उपराग माना गया है। ऐसा समझा जाता है कि यह किसी 'लोकगीत' से विकसित हुआ होगा। 'लावनी' लिखने वाले लोक-जीवन में घुले-मिले थे। मिश्र जी ने लावनियों की रचना करके इस परम्परा के महत्त्व को स्वीकार किया है। उनकी कुछ लावनियों में खड़ी बोली का निखरा रूप देखा जा सकता है। उनकी "मन की लहर" शीर्षक कविता उर्दू की ओर झुकी हुई खड़ी बोली में ही लिखी गई है। इसमें सूफी प्रेमधारा का प्रभाव झलकता है।

मिश्र जी ने 'बरहमन' उपनाम से बहुत सी कविताएँ उर्दू में भी लिखी हैं। बालमुकुन्द गुप्त ने उर्दू में उनका एक छोटा-सा "दीवान" भी देखा था। "प्रताप नारायण मिश्र कवितावली" में मिश्र जी के कुछ "शेर", "गजल", "क़तअ", "मुसल्लस", "मरसिया", "कसीदा", संगृहीत हैं। मिश्र जी ने कुछ कविताएँ 'फारसी' और 'संस्कृत' में भी की हैं। इनसे उनके फारसी और संस्कृत ज्ञान का अनुमान लगाया जा सकता है। हिन्दी में "मरसिया" लिखकर मिश्र जी ने एक नई परम्परा की शुरूआत की है। "भारतेन्दु" की मृत्यु पर उन्होंने जो "शोकाश्रु" लिखा है, उस पर भी उर्दू मरसिया का प्रभाव है। उन्होंने चार्ल्स ब्रैडला और स्वामी दयानन्द की मृत्यु पर भी शोकगीत लिखे हैं, इससे उनकी सहृदयता और उदारता का परिचय मिलता है। सिद्धान्त रूप में उर्दू का विरोध करते हुए भी व्यवहार में मिश्र जी ने उसे पूरी तरह स्वीकार किया है। उनको खड़ी बोली में लिखने की शक्ति उर्दू से ही प्राप्त हुई है। इस प्रकार देखा जाये तो ब्रजभाषा के स्थान पर काव्य-भाषा के रूप में खड़ी बोली के स्वीकार और प्रचार मे उर्दू का भी योगदान है।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि मिश्र जी एक सिद्ध गद्यकार ही नहीं प्रतिभा कवि भी है। उन्होने अपने एक दोहे में लिखा है

सत कविता कर व्यसन जिहि, तिहिकर हृदय अकासु।
जग दुखमय तम आछतहु, पावत अस परकासु।।

अर्थात् जिसकी रुचि सत् कविता मे होती है उसका हृदय आकाश के समान विशाल होता है और वह दुःख के अंधकार के होने पर भी तारों से शोभित आकाश की तरह प्रकाश का अनुभव करता रहता है। इससे हम मिश्र जी के काव्यादर्श की कल्पना कर सकते हैं। निश्चय ही उनका हृदय विशाल था। इसीलिए उनकी कविता में विषय, भाव, भाषा; छन्द और शैली सभी दृष्टियों से वैविध्य है। उनकी कविता का मूल स्वर देश-भक्ति का है किन्तु उनका कवि-व्यक्तित्व बहुआयामी है। उसमें हमें विद्यापति, कबीर, सूर, तुलसी आदि कालजयी कवियों की छाया और नवयुग का आलोक दोनो एक साथ दिखाई पड़ता है। उनकी बहुत सी कविताएँ सामयिक विषयों पर लिखी गई हैं किन्तु उनके पीछे जो

दर्द है, देश की पीड़ित जनता के प्रति जो गहरी सहानुभूति है और विरोधियो के प्रति जो क्षोभ और आक्रोश है, वह उन्हें आज भी प्रासंगिक बनाता है और आगे भी उनके महत्त्व को अक्षुण्ण रखेगा। मिश्र जी ने जो कुछ लिखा है, सोद्देश्य लिखा है। वे कलावादी नहीं है किन्तु जहाँ कहीं उन्होने चाहा है, वहाँ उनकी रचनाओं में श्रेष्ठ कवियों जैसा औदात्य और कलात्मक उत्कर्ष देखा जा सकता है, उनके विनय-गीतों की भावान्विति, तन्मयता, और शब्द-सौष्ठव, लोक-गीतो की मधुरता और संगीतात्मकता, वर्णनात्मक लम्बी कविताओं का नैसर्गिक प्रवाह तथा ऋतु-चित्रों का अलंकार-विधान कलावादियों को भी चुनौती देने वाला है। फिर हमें यह भी सोचना चाहिए कि वह जागरण का युग था कला-साधना का नहीं।

नाटककार के रूप में मिश्र जी का स्थान भारतेन्दु-युग की सीमाओं को देखते हुए कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। उन्हें नाट्यशास्त्र का ज्ञान भी था और मंच पर अभिनय करने का व्यावहारिक अनुभव भी। उन्होंने अपने सम-सामयिक नाटककारों—श्री—निवासदास, अम्बिकादत्त व्यास, ज्वालाप्रसाद मिश्र, राधाकृष्णदास आदि—के नाटकों की समीक्षा भी की है। स्वाभाविक है कि नाटक-रचना करते समय उन्होंने अपने अनुभवों का पूरा लाभ उठाया होगा। 'भारतेन्दु' की भाँति वे भी अनुभव करते थे कि अब संस्कृत नाटयशास्त्र का जटिल विधान अपनी उपयोगिता खो चुका है। इसलिए उन्होंने भी नाटकों की रचना में प्राचीन एवं नवीन रचना-पद्धतियों का समन्वय किया है। उनके "हठी हम्मीर" और "कलि कौतुक" नाटकों में "नान्दी" और "भरत वाक्य" का प्रयोग तो किया गया है किन्तु "प्रस्तावना", "गर्भांक", "प्रवेशक", "विष्कम्भक" आदि की योजना नहीं की गई है। "संगीत शाकुन्तल" में "प्रस्तावना", "नान्दी" और "भरत वाक्य" तीनों का विधान किया गया है। इसे मिश्र जी ने अपनी ओर से "गीत रूपक" बनाने की कोशिश की है। इसके नाट्यरूप के सम्बन्ध में डॉ. रामविलास शर्मा का कहना है—"इसका ढाँचा न संस्कृत नाटकों का है, न अंग्रेजी नाटकों का, यह नौटंकी का एक विशुद्ध रूप है। (भारतेन्दु युग और हिन्दी-भाषा की विकास-परंपरा, पृ. 58) इसके कुछ स्त्री पात्रों के गीत ग्रामगीतों की धुन पर बनाए गए है। मिश्र जी ने संस्कृत के "अभिज्ञान शाकुन्तल" का आधार लेते हुए भी इसमें अपनी ओर से काफी कुछ जोड़ा-घटाया है। मूल नाटक में पात्रों की सँख्या अधिक है, मिश्र जी ने कुछ पात्र कम कर दिए हैं। नाटक में अंकों का विभाजन दृश्यों में नहीं किया गया है, मिश्र जी ने अंकों को दृश्यों में विभक्त कर दिया है। पूरे नाटक को उन्होंने बैसवाड़े के ठेठ गाँवों की मानसिकता के अनुरूप ढाल दिया है। इस प्रकार उन्होंने इसे एक नया नाट्यरूप प्रदान किया है। "कलि कौतुक" और "भारत दुर्दशा" एक प्रकार से दुःखान्त नाटक कहे जा सकते हैं। इनकी रचना पर पाश्चात्य दुःखान्त नाटकों की छाया लक्षित की जा सकती है। नाटकों के क्षेत्र में मिश्र

जी को सबसे अधिक सफलता उन्हें अभिनेय बनाने में मिली है। उनके नाटक छोटे हैं और मंच की आवश्यकत्ता को ध्यान में रखकर लिखे गए हैं। संवाद छोटे-छोटे और पात्रों के स्वभाव और संस्कार के अनुकूल हैं। हास्य और व्यंग्य की सृष्टि करने में भी मिश्र जी को पर्याप्त सफलता मिली है। उन्होंने हास्य को मूल कथा का अंग बनाकर प्रस्तुत किया है। ऐतिहासिक नाटक में उन्होंने इतिहास की रक्षा की है। उनका "हठी हम्मीर" एक सफल नाट्यकृति है। इसमें पात्रों का शील-निदर्शन प्रभावपूर्ण है। इसके नायक हमीरदेव अपने उदात्त चरित्र से पाठकों को विशेष प्रभावित करते हैं। वस्तु-सघटन में सन्तुलन है। कथा के विकास में संघर्ष का विधान होने के कारण पूरे नाटक में गति आ गई है। यह होने पर भी नाटककार के रूप में मिश्र जी का मूल्यांकन उनके युग की सीमाओं को ध्यान में रखकर करना ही उचित होगा। उस समय हिन्दी-नाटक विकास के प्रथम चरण में था। अपना स्वतंत्र स्थान बनाने के लिए वह पारसी कम्पनियों से संघर्ष कर रहा था। उसका कोई आदर्श मच भी नहीं था। युग का नया परिवेश नाटककारों के सामने चुनौती बनकर खड़ा था। उन्हें दर्शकों की अभिरुचि का संस्कार करना था। पारसी कम्पनियों के फूहड़पन से बचना था। अद्‌भुत अलौकिक घटनाओं के स्थान पर स्वाभाविक और विश्वसनीय घटनाओं की योजना करनी थी। जनता का मनोरंजन करना था और इन सबके साथ नाटकों को उद्देश्यपरक बनाकर उनमें देश-हित और राष्ट्रीय चेतना का समावेश भी करना था। मिश्र जी ने इस चुनौती को स्वीकार किया और न केवल सुरुचिपूर्ण साहित्यिक नाटकों की रचना की वरन् स्वयं मंच पर अभिनय करके नाट्य-प्रेमियों के सामने आदर्श भी प्रस्तुत किया। इस स्तर पर उनका ऐतिहासिक महत्त्व स्वीकार्य होना चाहिए।

अनुवादक के रूप में भी मिश्र जी को अच्छी सफलता मिली है। उन्होंने सबसे अधिक अनुवाद बंगला भाषा से किए हैं। कुछ अंग्रेजी और फारसी कविताओं के अनुवाद भी उन्होंने किए थे किन्तु उधर उनका मन नहीं लगता था। मुरादाबाद के मुंशी इन्द्रमणि ने फ़ारसी में कुछ कविताएँ लिखी थीं। ये कविताएँ एक ऐसे मुसलमान द्वारा हिन्दुओं पर किए गए आक्षेपों के जवाब में लिखी गई थीं जो खत्री से मुसलमान हो गया था। मिश्र जी ने इन कविताओं का फ़ारसी से हिन्दी में अनुवाद किया था। उनके अंग्रेजी अनुवाद के विषय में श्री बालमुकुन्द गुप्त ने लिखा है—"अंग्रेज़ी अखबार पढ़ लेते थे, कभी इच्छा करते तो कुछ अनुवाद भी कर लेते थे, पर बड़ी अनिच्छा से"। उन्हें बंगला भाषा से अनुवाद करने का अच्छा अभ्यास था। अपने 5 जनवरी 1892 ई. के एक पत्र में उन्होंने बाबू बालमुकुन्द गुप्त को लिखा था—"इधर कई किताबों का अनुवाद भी कर डाला है, छप रही हैं, "देवी चौधरानी" का अनुवाद इन दिनों कर रहा हूँ, अच्छा नावेल है।" "अयोध्यार बेगम" का पता बतलाओ तो उसे भी मँगा के करि डालें" इससे लगता है कि बँगला के चर्चित उपन्यासों को मिश्र जी प्राप्त होने पर पढ़ते थे और पसन्द आने पर उनका अनुवाद

भी कर डालते थे। डॉ. शान्तिप्रकाश वर्मा ने इनके अनुवादों के विषय में लिखा है— मिश्र जी का अनूदित साहित्य मूलग्रंथों का अक्षरशः अनुवाद है। इन्होंने मूल ग्रंथों की कथावस्तु, चरित्र चित्रण, तथा पात्रों आदि में कोई परिवर्तन नहीं किया है, यहाँ तक कि अध्याय, खण्ड और परिच्छेद तक मूल ग्रन्थों पर आधारित है।''

—'प्रताप नारायण मिश्र की हिन्दी गद्य को देन' पृ. 156

मिश्र जी ने अक्षरशः अनुवाद करके अनुवादक के धर्म की रक्षा ही की है। मूल ग्रन्थों की कथावस्तु में या पात्रों के चरित्र-चित्रण में परिवर्तन करना अनुवादक का कार्य नहीं है। अनुवादक को अपनी भाषा में मूल रचना जैसा प्रभाव उत्पन्न करना होता है। इसके लिए वह अपनी भाषा की प्रकृति को ध्यान में रखकर मूल ग्रन्थ की वाक्य-रचना और शब्द-योजना में थोड़ा-बहुत परिवर्तन कर-सकता है।

वर्मा जी ने मिश्र जी के अक्षरशः ''अनुवाद'' का उदाहरण देते हुए 'कपाल कुण्डला' की निम्नलिखित पंक्तियाँ और उनका मिश्र जी द्वारा किया गया अनुवाद उदाहृत किया है—

''एदिके कापालिक गृह मध्ये तन्न-तन्न करिया अनुसंधान करिया, ना खड्ग ना कपालकुण्डला के दिखिते पाइया, संदिग्धचित्ते सैकते प्रत्यावर्तन करिलो। तथाय आसिया देखिलो जे, नव कुमार तथाय नाइ। इहाते अत्यन्त विस्मय जन्मिल। कियत्क्न परेई छिन्नलता बन्धनेर ऊपर दृष्टि पड़िलो। तखन स्वरूप अनुभूत करिते पारिया कापालिक नवकुमारेर अन्वेषणे बाहिर होइलो, किन्तु विजन मध्ये पाताल केरा कोनू दिके कोनू पथे गियाछे, ताहास्थिर करा दुःसाध्य।''

(इस कापालिक ने गृह में रत्ती-रत्ती अनुसंधान करके और न खड्ग और न कपाल कुण्डला को देख के संदिग्ध चित्त से सैकत की ओर लौटा। वहाँ देखा कि नवकुमार भी नहीं हैं। इससे अत्यन्त विस्मय हुआ। थोड़ी देर पीछे ही छिन्न लता बन्धन के ऊपर दृष्टि पड़ी। तब तो अनुभव करके कापालिक नवकुमार के अन्वेषण में धावित हुआ। किन्तु विजन में वह किस मार्ग होकर गया है, यह स्थिर करना दुस्साध्य था।''

—प्रताप नारायण मिश्र की हिन्दी गद्य को देन, पृ. 152

मिश्र जी का उपर्युक्त अनुवाद बहुत अच्छा नहीं है किन्तु उनका दोष यह नहीं है कि उन्होनें अक्षरशः अनुवाद किया है, उनका दोष यह है कि उन्होने वाक्य-रचना करते समय हिन्दी की प्रकृति का ध्यान नहीं रखा है। उनका पहला वाक्य व्याकरण की दृष्टि से त्रुटिपूर्ण है। ''ने'' का प्रयोग नहीं होना चाहिए था। ''एदिके'' का अनुवाद ''इधर'' होना चाहिए था। यदि मिश्र जी ने पहले वाक्य को तोड़कर दो-तीन छोटे-छोटे वाक्य बना लिए होते तो भाषा में प्रवाह आ जाता और त्रुटि भी नहीं होती। दूसरे वाक्य में मिश्र जी ने ''आसिया'' शब्द छोड़ दिया है। खैर, उससे कोई हानि नहीं हुई है। तीसरा वाक्य

फिर त्रुटिपूर्ण है। ''इससे अत्यन्त विस्मय हुआ'' के स्थान पर 'इससे कापालिक अत्यन्त विस्मित हुआ' या 'इससे कापालिक के मन में अत्यन्त विस्मय उत्पन्न हुआ' होना चाहिए था। चौथे वाक्य मे ''थोड़ी देर पीछे'' के स्थान पर 'एक क्षण बाद ही' होता तो अच्छा था। पाँचवें वाक्य में ''स्वरूप'' शब्द को मिश्र जी ने छोड़ दिया है। ''तब तो अनुभव करके'' इस वाक्य-खण्ड से यह प्रश्न उठता है कि ''क्या अनुभव करके''। इसी वाक्य में ''अन्वेषण में धावित हुआ'' यह वाक्यांश हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल नहीं है। इसके स्थान पर ''खोज में निकल पड़ा'' होता तो बेहतर होता। अंतिम वाक्य में मिश्र जी ने ''कोनू दिके'' का अनुवाद नहीं किया है। ''किस दिशा में किस मार्ग से'' ऐसा लिखते तो अनिश्चय की सभावना बढ़ जाती और वाक्य अधिक व्यंजक हो जाता। वास्तव में मिश्र जी जिस धड़ल्ले से निबन्ध लिखते थे उसी धड़ल्ले से अनुवाद भी करते जाते थे। उस समय तक हिन्दी-गद्य का स्वरूप व्याकरण की दृष्टि से स्थिर और परिमार्जित भी नहीं हुआ था। इसलिए इस प्रकार की त्रुटियाँ अस्वाभाविक नहीं हैं। इस प्रकार की त्रुटियाँ उस युग के अन्य अनुवादकों में भी लक्षित की जा सकती हैं। कुछ भी हो, मिश्र जी द्वारा अनूदित बंकिम के उपन्यास उस समय लोक-प्रिय हुए थे और उन्हें पढ़कर हिन्दी-भाषी जनता के मन में देश-प्रेम की भावना का उदय हुआ था। इन उपन्यासों के प्रति मिश्र जी के आकृष्ट होने का कारण भी इनमें निहित राष्ट्रीय चेतना ही थी। इस प्रकार अपने अनुवादों के द्वारा भी मिश्र जी ने हिन्दी-भाषी जनता के चित्त में देश-प्रेम की लहर पैदा करके हिन्दी-क्षेत्र में राष्ट्रीय चेतना के विकास को गति दी थी। इस दृष्टि से उनके अनुवादों का ऐतिहासिक महत्त्व है।

मिश्र जी एक निबन्धकार के रूप में सर्वाधिक प्रखर हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने मिश्र जी और भट्ट जी की एक साथ चर्चा करते हुए लिखा है—''पंडित प्रताप नारायण मिश्र और पंडित बालकृष्ण भट्ट ने हिन्दी-गद्य-साहित्य में वही काम किया है जो अंग्रेजी गद्य-साहित्य में एडीसन और स्टील ने किया था।'' (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 467)

जॉसेफ एडीसन (1672-1719 ई.) और रिचर्ड स्टील (1672-1729 ई.) दोनों अंग्रेजी गद्य-साहित्य के उन्नायक और श्रेष्ठ निबन्धकार हैं। एडीसन में बुद्धितत्व की प्रधानता थी और स्टील में हृदय की। इस दृष्टि से भट्ट जी को 'एडीसन' और मिश्र जी को 'स्टील' के समकक्ष रखा जा सकता है। निश्चय ही भारतेन्दु-कालीन इन दोनों ही निबन्धकारों की हिन्दी-सेवा अप्रतिम है किन्तु निबन्ध विधा को विषयगत वैविध्य और शैलीगत समृद्धि प्रदान करने में मिश्र जी का योगदान श्लाघ्य है। मासिक पत्र का संपादक होने के नाते उन्हें प्रतिमास अपने पत्र के लिए सामग्री जुटानी पड़ती थी। इसके लिए सबसे सुगम था किसी भी विषय को लेकर विचार करना और उसके माध्यम से अपनी बात पाठक तक पहुँचाना। मिश्र जी के निबन्ध इसी क्रम में लिखे गए हैं। निरन्तर नये

विषयों पर विचार करना उनकी विवशता थी किन्तु उनके निबन्धों को पढ़कर यह नहीं लगता कि वे किसी प्रकार की विवशता की उपज हैं। मिश्र जी किसी भी विषय को लेकर अपनी बात कह सकते थे। कभी वे "मुच्छ", "भौं", "दाँत", "पेट" जैसे शारीरिक अंगों को लेकर विचार करते हैं, कभी "द", "ट", "त" जैसे वर्णमाला के अक्षरों को लेकर। कभी वे "फूटी सहै ऑजी न सहैं", "घूरे के लत्ता बिने कनातन का डौल बांधे", "हुची चोट निहाई के माथे", "मरै का मारैं साहमदार", "अष्ट कपारी दारिद्री जहाँ जायँ तहँ सिद्धि", "लड़ते है और हाथ में तलवार भी नहीं" जैसी लोकोक्तियों और कहावतों को अपने विचार का विषय बनाते हैं, कभी "ट्रेढ़ जानि शंका सब काहू", "ऊँच निवास नीच करतूती", "कलि महँ केवल नाम प्रभाऊ" आदि तुलसी द्वारा प्रयुक्त सूक्तियों को। संस्कृत की सहस्रों सूक्तियाँ उनकी कण्ठस्थ थी। इसलिए "मुनीनां च मतिभ्रमः", "अहह कष्टमपं डितताविधेः", "मूलन्नास्ति कुतः शाखा", "सर्व संग्रह कर्तव्यं कः काले फलदायकः" जैसी सूक्तियों को भी वे अपने निबन्धों का विषय बना लेते हैं। "बेगार", "रिश्वत", "देशोन्नति", "देशीकपड़ा", "बालशिक्षा", "धर्म और मत", "हमारी आवश्यकता", "ग्रामों के साथ हमारा कर्त्तव्य", "देव मंदिरों के प्रति हमारा कर्त्तव्य", "गंगा जी की स्थिति", "दशावतार", "उन्नति की धूम", "बाल्य विवाह", 'प्रह्लाद चरित्र", "अपव्यय", "विलायत यात्रा", "गोरक्षा", "नवपंथी और सनातनाचारी" और "शैव सर्वस्वु" जैसे शीर्षक देकर आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक तथा देशभक्ति जैसे विषयों का सीधा प्रतिपादन भी मिश्र जी ने किया है। कितु यहाँ भी उनकी प्रतिपादन-शैली स्वच्छन्द है। "देशोन्नति" शीर्षक निबन्ध का आरंभ मिश्र जी मुसलमानों के आने से पहले मुक्ति के सस्ती होने की बात से करते हैं और पूरा एक पैरा धर्मशास्त्रों से मुक्ति के सस्ती होने का उदाहरण देने के बाद कहते हैं—"ठीक मुक्ति ही की सी दशा आजकल देशोन्नति की देख पड़ती है।" वास्तविकता तो यह है कि मिश्र जी के निबन्धों का विषयगत वर्गीकरण किया ही नहीं जा सकता। शीर्षक को देखकर यह अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता कि उसमें कहा क्या गया है? उदाहरण के लिए मिश्र जी के एक निबन्ध का शीर्षक है—"एक"। इसका आरंभ करते हुए वे कहते है "इस अनेक-वास्त्वात्मक विश्व का कर्ता, धरता, हर्ता परमेश्वर एक है। उसके मिलने का मार्ग प्रेम ही केवल एक है। आदि देव श्री गणेश जी का दॉत एक है। अंक शास्त्र का मूल एक है। सत्पुरुष की बात एक है।" इस आरंभ को देखकर लगता है कि पूरे निबन्ध मे वे "एक" संख्या की महत्ता प्रतिपादित करेंगे। किन्तु थोड़ा आगे चलकर वे कहते हैं—"एक का अनेक होना ही नाश का हेतु है। फिर वे "एक" से "एकता" पर आ जाते हैं और कहते हैं—"ऐसा कोई काम नहीं है जो बहुतों की एकता से न हो सके।" इसके बाद उनका रास्ता साफ हो जाता है और वे अपने प्रिय विषय—"देश की एकता" का प्रतिपादन करते हुए कहते

हैं "वह देश धन्य है जहाँ ऐक्य की प्रतिष्ठा हो" और अन्त मे अपने पाठकों से आग्रह करते हैं—"आप एक हो के देख लीजिए कि सब कुछ हो सकता है या नहीं।" किन्तु निबन्ध का अन्त यहाँ नहीं होता। मिश्र जी पूरे वक्तव्य को हास्य का पुट देते हुए कहते हैं—"पाठक! क्या तुम्हें सदा "ब्राह्मण" के मस्तक पर एक का चिह्न देख के उसका महत्त्व कुछ अनुभव होता है ? (यहाँ पर स्मरणीय है कि "ब्राह्मण" के मुख पृष्ठ पर सबसे ऊपर अर्द्ध चन्द्र बना रहता था और इसके बीच १ का अंक लिखा रहता था।) तो फिर क्यों नहीं सब झगड़े छोड़ के सत चित्त से एक की शरण होते ? क्यों नहीं एक होने और एक करने का प्रयत्न करते ?" प्रतिपाद्य विषय को ध्यान में रखकर विचार करें तो इस निबन्ध का शीर्षक "एकता का महत्त्व" "एकता में शक्ति है" आदि कुछ भी हो सकता है। यही स्थिति उनके अन्य निबन्धों की भी है।

सामान्यतः यह समझा जाता है कि मिश्र जी ने हास्य व्यंग्य-प्रधान शैली के लिए उपयुक्त चलते-फिरते विषयों पर ही विचार किया है किन्तु यह अर्ध सत्य है। उन्होंने "न्याय", "सत्य", "ममता", "स्वतंत्रता", "आत्मीयता", "निर्लिप्तता", जैसे अमूर्त विषयों को लेकर अपेक्षाकृत संयमित और गंभीर शैली मे भी विचार किया है। इन अमूर्त विषयों के प्रतिपादन में विचार-सूत्रों में बिखराव नहीं आने पाया है। बात नपी-तुली है। "सुचाल-शिक्षा" के अन्तर्गत आने वाले निबन्ध इसी प्रकार के हैं।

मिश्र जी की निबन्ध-रचना-पद्धति नितान्त मौलिक है। निबन्ध का शीर्षक, आरंभ करने का ढंग, विषय का विस्तार और अत में सब कुछ को समेटते हुए केन्द्रीय तत्त्व को विश्वसनीय और ग्राह्य बनाकर प्रस्तुत करने की शैली, सर्वत्र उनकी मौलिकता झलकती है। कहीं पाठक को सम्बोधित करते हुए, कहीं किसी प्रतिष्ठित ग्रंथ का कोई वाक्य उद्धृत करते हुए, कहीं किसी महापुरुष द्वारा कथित सिद्धान्त-वाक्य का उल्लेख करते हुए, कहीं भगवान् को धन्यवाद देते हुए, कहीं किसी छन्द की पंक्ति-विशेष प्रस्तुत करते हुए, कहीं सीधे शीर्षक का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए, कही किसी साप्ताहिक या मासिक पत्र के कथन का हवाला देते हुए, कहीं शीर्षक के अनुकूल एक पूरा छन्द उद्धृत करते हुए, कहीं शीर्षक की व्याख्या करते हुए, कहीं शीर्षक के उच्चारण के माधुर्य की ओर पाठक का ध्यान आकृष्ट करते हुए, कहीं शीर्षक को उपमेय बनाकर उसको उत्कर्ष देने के लिए किसी उपयुक्त उपमान का विधान करके पाठक को प्रभावित करते हुए, कहीं अपने ही किसी पुराने लेख का उल्लेख करते हुए, कहीं शीर्षक सम्बन्धी लोक-प्रचलित धारणा पर प्रश्न चिह्न लगाते हुए, वे अपने निबन्ध आरंभ करते है। विषय का विस्तार करने की भी उनकी अपनी पद्धति है। जो बात वे प्रतिपादित करना चाहते है उसको प्रमाणिक, महत्त्वपूर्ण और ग्राह्य सिद्ध करने के प्रयत्न में वे तर्क पर तर्क देते चलते है। इन तर्कों के मूल में उनकी अपनी सूझ ही प्रधान होती है। बहुश्रुत होने के कारण वे अपने समर्थन

में लोक-प्रचलित कहावतो, तथा संस्कृत, उर्दू, फारसी और अंग्रेजी की सूक्तियों का बार-बार हवाला देते हैं। यह क्रम कुछ इस प्रकार चलता है कि पाठक को सोचने का अवसर ही नहीं मिलता। इस प्रकार विषय का विस्तार करने के बाद वे अन्त में मूल बात पर आते हैं। और प्रायः अपने निबन्धों के शीर्षकों को दुहराते हुए उनका अन्त करते हैं। इसके अतिरिक्त अंत में कही वे पाठकों से वर्ण्य-विषय के सम्बन्ध में फिर कुछ कहने का वादा करते हुए, कहीं उनसे कही हुई बात को चरितार्थ करने का आग्रह करते हुए, कहीं उन्हें आशीर्वाद देते हुए और कही कही हुई बात न मानने का दुष्परिणाम भुगतने की चेतावनी देते हुए भी देखे जा सकते हैं। मिश्र जी के निबन्ध बड़े नहीं हैं। प्रायः उनका विस्तार दो तीन पृष्ठों तक है। कुछ ही निबन्ध चार या पाँच पृष्ठों के होंगे। इसलिए विषय का अधिक विस्तार नहीं हो पाता। "ब्राह्मण" पत्र का आकार भी निबन्धों के छोटे होने का कारण हो सकता है। निबन्धकार के रूप में मिश्र जी की सबसे बड़ी विशेषता पाठक वर्ग के साथ उनका तादात्म्य है। वे निबन्ध के आरम्भ में ही पाठक वर्ग को आकृष्ट करते हैं और बीच–बीच में कहीं उनसे प्रश्न करते हुए, कहीं चुनौती देते हुए, कहीं विश्वास में लेते हुए, कही ध्यान आकृष्ट करते हुए, कहीं निवेदन और आग्रह करते हुए अंत तक साथ रखते हैं। पाठकों के साथ ही वे अपने प्रतिपक्षी को भी विस्मृत नहीं करते। किसी भी समस्या पर विचार करते हुए वे अपने मत पर स्थिर रहते हैं और प्रतिपक्षी का प्रतिवाद करते चलते है। उनका यह प्रतिपक्षी उनके सभी निबन्धों में लक्षित किया जा सकता है। इसे हम कहीं "अंग्रेजीवाज" के रूप में, कहीं "गुप्त ठग" के रूप में, कहीं "रिश्वतखोर" के रूप में कहीं "स्वदेशी और नागरी विरोधी" के रूप में, और कहीं "शोषक" के रूप में लक्षित कर सकते हैं। मिश्र जी को बराबर ध्यान रहता है कि उनका पाठक कहीं प्रतिपक्षी का विश्वास न कर ले। कहीं-कहीं मिश्र जी ने दोनों पक्षों को एक साथ उपस्थित करके 'प्रश्नोत्तर शैली' में अपनी बात कही है। "मतवाले भाई और प्रेमी", "ज्ञान चन्द्र और प्रेम चन्द्र" तथा "फक्कड़ और भंगड़" प्रश्नोत्तर शैली के निबन्ध हैं। इन निबन्धों मे नाटकीयता का समावेश स्वाभाविक है। मिश्र जी के अन्य निबन्धों में भी प्रतिपक्षी की काल्पनिक उपस्थिति के कारण एक प्रकार की नाटकीयता आ गई है। इससे उनके निबन्ध जीवन्त हो गए हैं। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में निबन्धकार मिश्र जी अपनी स्वच्छन्दता, आत्म-व्यंजकता, हास्य-प्रियता, व्यंग्य-वक्रता, सजीवता, चपलता, लोकोन्मुखता, मुहावरेदानी तथा लोकोक्तियों एवं सूक्तियों की प्रयोग-बहुलता के लिए स्मरण किये जाते हैं। इस क्षेत्र में उनके एक ही प्रतिद्वन्द्वी श्री बालकृष्ण भट्ट हैं। इसमें सन्देह नहीं कि दोनों में बहुत-सी बातें समान हैं किन्तु भट्ट जी भी मिश्र जी की कलम की कारीगरी के कायल थे।" हिन्दी प्रदीप" में "लिलार" पर अपना निबन्ध आरंभ करते हुए वे कहते हैं—"हमारे कानपुर के सहयोगी सम्पादक शिरोमणि "ब्राह्मण" में "भौं" पर अपने कलम की कारीगरी

का उमदा नमूना दिखला चुके हैं, उन्हीं को अपना शिक्षा-गुरु मान हम भी आज ''लिलार'' पर अपनी लेखनी की सुघराहट की बानगी का दो एक नमूना पाठकों को दिया चाहते हैं।''

—'हिन्द्री गद्य के निर्माता' में पण्डित बालकृष्ण भट्ट पृ. 214 पर उद्धृत।

भट्ट जी और मिश्र जी दोनों ने एक दूसरे को प्रेरित और प्रभावित किया है। कभी-कभी तो दोनों ने एक ही विषय पर अपने विचार व्यक्त किए हैं। किन्तु दोनों की बचन-भंगिमा अलग-अलग है। उदाहरण के लिए ''बात'' शीर्षक निबन्ध लिया जा सकता है। ''बात'' के सम्बन्ध में भट्ट जी कहते हैं—

''बात क्या है? बात किसे कहते हैं। यह तो सब कोई जानते हैं कि यह शब्द पुराना हमारे ही देश का है। हमने इसे किसी विदेशी से मँगनी नहीं माँगा किन्तु शुद्ध हिन्दी और 'वार्ता' का अपभ्रंश है। बात हमारी बात है, हमारे देश की बात है। बात संसार में बड़ी बात है। जिसकी बात है, उसकी क्या बात है? जिसकी बात नहीं है उसकी क्या बात। ईश्वर करै बात सबकी बनी रहै। बात गए बात नहीं मिलती।—बात हार गए, बात खा गए। बात देदी। बात देनी पड़ी, बात बिगड़ गई।''

—'हिन्दी गद्य के निर्माता' पण्डित बालकृष्ण भट्ट, पृ. 213 पर उद्धृत।

ठीक इसी विषय पर मिश्र जी लिखते है—''यद्यपि बात का कोई रूप नहीं बतला सकता कि कैसी है पर बुद्धि दौड़ाइए तो ईश्वर की भाँति इसके भी अगणित ही रूप पाइएगा। बड़ी बात, छोटी बात, सीधी बात, टेढ़ी बात, खरी बात, खोटी बात, मीठी बात, कड़वी बात, भली बात, बुरी बात, सुहानी बात, लगती बात, इत्यादि सब बात ही तो है?''

—'प्रताप नारायण मिश्र ग्रंथावली' पृ. 427

भट्ट जी ने अपना निबन्ध १८८३ ई. में लिखा था, मिश्र जी ने मई १८९० ई० में। प्रकट है कि यहाँ मिश्र जी को भट्ट जी से प्रेरणा मिली है किन्तु उन्होंने मात्र प्रेरणा ली है, अनुकरण नहीं किया है। भट्ट जी की विदग्धता का आधार सन्दर्भ-भेद को दृष्टि में रखकर किया गया प्रयोग-वैविध्य है जब कि मिश्र जी ने विशेषण-वैविध्य द्वारा चमत्कार उत्पन्न किया है।

भट्ट जी और मिश्र जी की विचारधारा में भी पर्याप्त समानता है। दोनों देश-भक्त है। दोनों को अपनी संस्कृति, भाषा, और साहित्य से प्रेम है। दोनों स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग पर बल देते हैं, दोनो अंग्रेजों की शोषण-नीति का विरोध करते हैं, देश की आर्थिक दुर्दशा का चित्र खींचते हैं, और टैक्स का विरोध करते हैं। दोनों ही आस्तिक हैं। दोनों का ईश्वर में अखंड विश्वास है। दोनों ही समाज-सुधार पर बल देते हैं। दोनों ही बाल-विवाह का विरोध करते हैं और विधवा-विवाह का समर्थन। दोनों को फैशन-परस्ती से चिढ़ है। दोनों ही हर बात में अंग्रेजों की नकल करने की प्रवृत्ति को घातक मानते हैं।

दोनों प्रवृत्ति-मार्ग के समर्थक और जीवट के धनी हैं। इस वैचारिक साम्य के कारण ही दोनों ने प्रायः समान विषयों पर लेखनी चलाई है और पूरी निष्ठा से हिन्दी-साहित्य की सेवा की है। जिस बिन्दु पर दोनों अलग होते हैं वह है—राजभक्ति और देश-भक्ति का द्वन्द्व। मिश्र जी दोनों को एक साथ निभाने की कोशिश करते हैं किन्तु भट्ट जी को दोनों में स्पष्ट विरोध दिखाई देता है। वे नहीं मानते कि कोई एक साथ राजभक्त और देश-भक्त दोनों हो सकता है। वे 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' को एक ऐसी संस्था के रूप में देखते हैं जिसका संघटन भारत में ब्रिटिश शासन को पुष्ट करने के लिए किया गया था। इसलिए वे उसका समर्थन नहीं कर पाते। सब मिलाकर भट्ट जी की राजनीतिक दृष्टि अधिक पैनी है। चीज़ों को देखने का उनका ढंग भी अधिक वैज्ञानिक है। साहित्य के सम्बन्ध में वे 'विकासवाद' के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए प्रतीत होते हैं। उनके समबन्ध में डा. रामविलास शर्मा ने ठीक ही लिखा है—"भट्ट जी अपने गम्भीर अध्ययन, आलोचना प्रतिभा, संयत शैली, आदि गुणों के कारण भारतेन्दु-युग से भिन्न बहुत कुछ आज के से लगते हैं। आज के युग में विश्लेषण और विवेचन का जोर है; भारतेन्दु-युग की प्रतिभा मूलतः रचनात्मक थी"

—'भारतेन्दु-युग और हिन्दी-भाषा की विकास परम्परा' पृ. 91।

निस्सन्देह विचार और रचनात्मक ऊर्जा दोनों दृष्टियों से मिश्र जी भारतेन्दु-युग का अतिक्रमण नहीं करते। इस दृष्टि से भट्ट जी उनसे आगे है। वे अपने युग का अतिक्रमण करते हुए प्रतीत होते हैं किन्तु दोनों की तुलना करते समय यह भी ध्यान रखना होगा कि भट्ट जी कवि नहीं थे। मिश्र जी जितने बड़े निबन्धकार हैं, उतने ही बड़े कवि भी हैं। उनके निबन्धों में कवित्व है। हास्य और विनोद उनके व्यक्तित्व के अंग हैं। भट्ट जी अधिक संयत, गंभीर और निर्मम है। मिश्र जी के निबन्धों में लालित्य अधिक है। वे अधिक सहज हैं। पाठक के साथ उनका तादात्म्य भी कुछ अधिक ही है।

हिन्दी-साहित्य को मिश्र जी की सबसे बड़ी देन निबन्ध-विधा और गद्य-शैली की समृद्धि ही है। इसलिए उनके गद्य के स्वरूप पर विचार करना उचित होगा। यह सर्व विदित है कि भारतेन्दु-युग का हिन्दी गद्य पूर्णतः परिमार्जित और व्याकरण-निष्ठ नहीं है। गद्य को व्याकरण की दृष्टि से परिष्कृत करने और प्रयोगों मे एक रूपता लाने की ओर तो सबसे पहले आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी-लेखकों का ध्यान नवम्बर 1905 ई. की "सरस्वती" में "भाषा और व्याकरण" शीर्षक निबन्ध लिखकर आकृष्ट किया था। भारतेन्दु-युग में तो किसी गद्य-लेखक ने शब्द-प्रयोग और वाक्य-रचना को निर्दोष बनाने की बात सोची ही नहीं थी। इस युग में एक ही शब्द के कई रूपो—'जायगा, जावेगा, जाएगा'; 'घबराहट, घबड़ाहट'; 'धोखा, धोका'; 'मुहावरा, मुहाविरा'—का प्रचलन एक साथ मिलता है। वाक्य-रचना मे लिंग, वचन और कारक सम्बन्धी अनेक प्रकार की त्रुटियाँ

मिलती हैं। शब्दों के अशुद्ध प्रयोग—'वादविवाद, लावण्यता, माधुर्यता, जात्याभिमान, संसारीय'—मिलते है। बचन की अनेक रूपता—स्त्रियाँ, स्त्रियें, राजे, राजाओं—देखी जा सकती है। पूर्व कालिक क्रिया-रूपों की रचना मे जहाँ आज "कर" का प्रयोग होता वहाँ उस समय प्राय· "य" लिखा जाता था—जैसे, "दिखाकर" के स्थान पर "दिखाय", "जाकर" के स्थान पर "जाय" आदि। "ले", "दे" के स्थान पर "लै", "दै"; "करना" के स्थान पर "क्रिया"; "होना" के स्थान पर "हुआ" जैसे प्रयोग लोग सहज भाव से करते थे। मिश्र जी की भाषा मे ये सभी त्रुटियाँ मिलती हैं। उनकी वाक्य-रचना मे भी लिंग, बचन और कारक सम्बन्धी अनेक दोष लक्षित किए जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त वे प्रायः "वह" के स्थान पर "वुह" "पृथक्" के स्थान पर "प्रथक्" "प्रश्न" के स्थान पर "प्रष्ण", "लेखनी" के स्थान पर "लेखणी" और ऋषि के स्थान पर "रिषि" लिखते हैं। "ऐक्यता", "वात्ल्य" "नीरोग्य", "महात्म्य" जैसे असाधु प्रयोग भी वे निस्संकोच करते हैं। भाषा-परिष्कार और परिमार्जन उनका लक्ष्य ही नही था। उनके गद्य की सबसे बड़ी विशेषता उसकी ऊर्जा है। यह ऊर्जा उन्होंने लोक-जीवन से ग्रहण की है। उनका पूरा गद्य एक ऐसे प्रतिभाशाली शिक्षक का गद्य है जो शताब्दियों से सुप्त लोक-मानस को उसी की बोली-बानी में, उसी के मानसिक-धरातल पर उतरकर, जगाना चाहता है। उसे नये युग के आलोक से आलोकित करना चाहता है किन्तु कहीं भी शिक्षक की कठोर मुद्रा का आभास नहीं होने देता। उसके पाठक ही उसके विद्यार्थी है जिन्हे वह रिझाता है, हँसाता है, आकृष्ट करता है, समझाता-बुझाता है, चेतावनी देता है, सचेत करता है, प्रोत्साहित करता है और आशीर्वाद भी देता है। यह सब वह उन्हीं के साथ घुल-मिलकर करता है। उनसे एक पल के लिए वह अलग नहीं होना चाहता। इसके लिए वह उन्हीं के शब्द, उन्हीं के मुहावरे, उन्हीं के द्वारा बार-बार प्रयुक्त होने वाली कहावतें तथा उन्हीं का लहजा प्रयोग में लाता है। यही कारण है कि उनके गद्य में "मोहरी, मुड़चिरों, धम्मक, भड़िया, लसोरा, ढेखुली, लतिहल, भुच्च, जुतहाव, हौरा, टिर्र, रामरसरा, खटिया, डेंग, गहना, लत्ता, घूर, मच्छर, भँडुवा, मरही, गाले, खाँव-खाँव, मुच्छ, हौकते-हौकते, अक्किल, पुन्य, पुपला, भूसा, दाँत, किलकिल, हिजो, खुडहे, भट्टी, पोला, बूता, बहिनी, अठएँ-दसएँ, सीधा (भोजन सामग्री), धेला, कौड़ी, साठा, अड़ोस-पड़ोस, मूँड, नौधरी, बबुआइन, टसकाए, गुरबा, लंकलाट, गुसैयां, रुजगार, लढ़िया, पिसौनी-कुटौनी, अँचार, फलाने-ढिकाने, थुक्का-फजीती, पुरबुले, वियाज छियाज, गहना-गुरिया, टेलुहा, खज्ज-अखज्ज, हड़परई, आदि न जाने कितने शब्द लोक-जीवन से आकर डट गए है। इनका प्रयोग करते हुए वे ठीक वैसी ही भंगिमा और मुद्रा भी धारण कर लेते हैं जैसा कोई ठेठ बैसवाड़े का किसान अपने लोगों को समझाने-बुझाने के समय धारण करता है। इसीलिए उनके गद्य में लोक प्रचलित मुहावरों और कहावतों की भरमार है। डॉ. शान्ति प्रकाश वर्मा ने तो

इन मुहावरों और कहावतों का पूरा कोष ही तैयार कर दिया है। मुहावरा-कोष लगभग११० पृष्ठों का है। कहावतें कुल१६ पृष्ठो में आई हैं। इनके अतिरिक्त मिश्र जी ने अपनी बातों की पुष्टि के लिए सस्कृत की जिन सूक्तियों और श्लोकों को उद्धृत किया है उनकी संख्या 220 है। उर्दू और फारसी की सुक्तियाँ कुल 66 हैं। इस प्रकार उन्होंने हिन्दी गद्य को अपनी पूरी शक्ति से समृद्ध किया है। यह समृद्धि मुख्यत. अभिव्यंजना और शैली की समृद्धि है। लोक-जीवन से गृहीत शब्दों, मुहावरों, कहावतों तथा संस्कृत, हिन्दी, उर्दू, फारसी और अंग्रेजी से गृहीत सूक्तियो ने उनकी भाषा को अत्यन्त व्यंजक और लोचदार बना दिया है और उनके बहु आयामी व्यक्तित्व ने उनकी शैली को विरल-विशिष्ट। हिन्दी-साहित्य मे शैली-की दृष्टि से निबन्धों के वर्गीकरण—वर्णनात्मक, विवरणात्मक, विचारात्मक, भावात्मक, कथात्मक आदि—की जो परम्परा है उसके आधार पर मिश्र के शैली-वैशिष्ट्य को पूरी तरह नहीं समझा जा सकता। कहने के लिए तो उन्होंने "होली", "रथयात्रा", "भौ", "मुच्छ", "दॉत", "युवावस्था" आदि ऐसे कई विषयों पर लिखा है जिनकी शैली वर्णनात्मक समझी जा सकती है किन्तु कहीं भी उनका वर्णन क्रमबद्ध और विषय-प्रधान नही है। इसी प्रकार "कांग्रेस" के प्रयाग अधिवेशन की जो झलक उन्होने प्रस्तुत की है, उसे "विवरणात्मक" मान सकते हैं किन्तु यह विवरण भी वस्तुओं और घटनाओ की स्थिति का सूचक न होकर पूर्णत. प्रभावाभिव्यंजक है। मिश्र जी में स्वच्छन्दता और मनमौजीपन अवश्य है। किन्तु वह ऐसा नहीं है कि उन्हें आवेग में बहा ले जाय और वे अपना गन्तव्य भूलकर कहीं से कहीं पहुँच जायें। इसलिए शुद्ध भावात्मक निबन्ध भी उन्होंने बहुत कम लिखे हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और वाजिद अली शाह की मृत्यु पर उन्होंने जो शोकोद्‌गार व्यक्त किए हैं उन्हे भावात्मक अवश्य कहा जा सकता हैं। इसी प्रकार "सुचाल शिक्षा" के अन्तर्गत आने वाले कुछ निबन्धों—मनोयोग, निर्लिप्तता, मिताचरण, निजत्व, आत्म गौरव, आत्मीयता, संलग्नता, आदि—को छोड़कर शुद्ध विचारात्मक निवन्ध भी उन्होंने नहीं लिखे है। 'तत्त्व के तत्त्व में अंग्रेजीवजों की भूल है', 'धर्म और मत', 'प्रेम एव परोधर्मः' जैसे कुछ निबन्ध विचारात्मक कहे जा सकते हैं किन्तु इनमे भी विचारों की गहनता, व्याप्ति, क्रमबद्धता के स्थान पर विषय-विवेचन मे मिश्र जी की अपनी रुचि ही निर्णायक बन गई है। वस्तुत उनकी स्वच्छन्दता, वाक्य-पटुता, व्यंग्य-विनोदप्रियता, प्रत्युत्पन्नमतित्व, चमत्कारप्रियता, न्याय-निष्ठा, संवेदनशीलता, दृढ़ता, उदारता, सहजता, स्पष्टवादिता, लोकोन्मुखता तथा जात्यभिमान और देशानुराग उनके निबन्धों में संश्लिष्ट रूप से सर्वत्र विद्यमान है। इसीलिए उनकी शैली विरल-विशिष्ट है। उनके निबन्धों में कवित्व, कथात्मकता, नाटकीयता, आदि अन्य विधाओं के तत्त्व भी विद्यमान है। इन सबने मिलकर उनकी निबन्ध-शैली को अप्रतिम बना दिया है। उनके बाद बाबू बालमुकुन्द गुप्त, सरदार पूर्ण सिह, पंडित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पंडित पद्‌मसिंह

शर्मा, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, आदि अनेक आत्मव्यंजक निबन्धकारों ने हिन्दी-गद्य-शैली को समृद्ध किया है किन्तु व्यंजना का यह संश्लिष्ट विधान और बातचीत का यह आत्मीय लहजा मिश्र जी के साथ ही चला गया। इनकी शैली की विशेषता को लक्षित करते हुए डॉ. रामविलास शर्मा ने कहा है—''भारतेन्दु युग के अन्य किसी लेखक ने अपनी लेखनी को जीभ की तरह इतना नहीं चलाया, अन्य किसी लेखक ने पाठक से इतनी आत्मीयता से और इतनी ज्यादा बात-चीत नहीं की ओर कोई भी लेखक अपनी भाषा को इतनी सरपट नहीं दौड़ा सका जितना प्रताप नारायण मिश्र। भारतेन्दु-युग में भी और किसी की हिन्दी ग्रामीण बोलियों के इतना निकट नहीं आ पाई।'' मैं इसमें इतना ही जोड़ना चाहूँगा कि भारतेन्दु-युग के बाद भी अन्य किसी गद्य-लेखक की भाषा में ये विशेषताएँ एक साथ लक्षित नहीं होती। इन्हीं विशेषताओं के कारण मिश्र जी का गद्य आज भी महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान है।

उपसंहार

पं. प्रताप नारायण मिश्र भारतेन्दु-युग के साहित्यकारों में अपनी विलक्षण प्रतिभा, विनोदशीलता, फक्कड़पन, देशभक्ति, लोकसम्पृक्ति, सहृदयता, न्याय-निष्ठा, तथा हिन्दी के प्रति एकान्त समर्पण के कारण सदैव स्मरणीय रहेंगे। इनके शुभचिन्तकों, सहयोगियों और मित्रों में श्री बालकृष्ण भट्ट, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, और बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' तीनों ही इनसे आयु में बड़े थे किन्तु तीनों ही इन्हें आदर की दृष्टि से देखते थे। इसका कारण इनकी प्रतिभा और अन्तःकरण की निर्मलता थी। भट्ट जी की दृष्टि अधिक वैज्ञानिक थी। उनका पाण्डित्य प्रखर था। उनका अध्ययन व्यापक और गंभीर था। उन्हें यूरोपीय साहित्य के विकास का भी अच्छा ज्ञान था। उन्होंने अपने निबन्धों में भारतीय और यूरोपीय साहित्य की तुलना भी की है। उनकी राजनीतिक समझ अधिक सूक्ष्म और पैनी थी किन्तु इन सबके बावजूद उनमें उस कवि-सुलभ संवेदनशीलता की कमी थी जो वस्तुओं की रसात्मक अनुभूति कराती है। चौधरी "प्रेमधन" में सब कुछ है पर वह सहजता और फक्कड़पन नहीं है जो मिश्र जी में है। लोक-जीवन में घुल-मिलकर उससे एकमेक हो जाने की प्रवृत्ति भी उनमें मिश्र जी से कम है। वे रईस थे। उनके लेखन में भी रईसी की झलक है। "भारतेन्दु" मिश्र जी के आदर्श थे। वे स्वभाव और व्यक्तित्व में मिश्र जी के अधिक समीप हैं किन्तु दोनों में एक अन्तर है। "भारतेन्दु" ने आभिजात्य तोड़ा है। टूटते-टूटते भी संस्कार के स्तर पर वह अन्त तक उनके व्यक्तित्व का अंग रहा है। मिश्र जी संस्कारतः एक किसान हैं। आभिजात्य के नाम पर उनमें जातिगत श्रेष्ठता का बोध टूटते-टूटते भी कहीं रह गया था। इसीलिए उन्होंने 'आशीर्वाद' देने का अपना अधिकार बराबर सुरक्षित रखा। अपने पत्र का नाम भी उन्होंने "ब्राह्मण" रखा और सच्चे ब्राह्मणत्व का परिचय देते हुए अनेक कठिनाइयों के बावजूद न्यायपथ पर अंत तक अडिग रहे। "भारतेन्दु" की दृष्टि अधिक व्यापक थी। पूरे देश की यात्रा करके उन्होंने भारतीय समाज और उसकी स्थिति का प्रत्यक्ष परिचय प्राप्त किया था। उनका मानसिक क्षितिज विस्तृत और हृदय विशाल था। उनकी बुद्धि विलक्षण थी। वे सच्चे अर्थों में युग-प्रवर्तक थे। मिश्र जी के व्यक्तित्व पर उनकी अमिट छाप पड़ी थी। उनके जीवन-काल में ही उन्हें "भारतेन्दु" का समशील मानकर हिन्दी साहित्याकाश का दूसरा 'चन्द्र' समझा जाने लगा

था, किन्तु एक स्तर पर वे "भारतेन्दु" को भी पीछे छोड़ देने की शक्ति रखते थे, वह स्तर है उनके व्यक्तित्व में बसा हुआ भारतीय गाँव। इस गाँव ने उन्हें जो दिया है वह अन्यत्र दुर्लभ है। इसी गाँव ने उन्हें मुहावरों और कहावतों का अक्षय कोश बनाकर उनकी शैली को सजीव और समृद्ध किया है। उनकी कष्ट-सहिष्णुता और आस्तिकता भी गाँव की ही देन है। उनकी मस्ती, अक्खड़ता, लापरवाही और जिन्दादिली मे भी गाँव का योगदान कुछ अधिक ही है। यह गाँव उनकी शक्ति और सीमा दोनों है। मिश्र जी सुधार और सामंजस्य तो चाहते हैं किन्तु बड़े परिवर्तन को आशंका की दृष्टि से देखते हैं। यहाँ उनके भीतर छिपा हुआ भारतीय किसान उनकी सीमा बन जाता है। वे अच्छी तरह समझते हैं कि अंग्रेज हर स्तर पर भारत का शोषण कर रहे हैं। किन्तु महारानी विक्टोरिया की सदाशयता पर उनका विश्वास बना रहता है। प्रिंस ऑफ वेल्स और ब्रैडला का वे स्वागत करते है तथा ए. ओ. ह्यूम और लार्ड रिपन को महात्मा सम्बोधित करते हैं। 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' को जितना विश्वास और समर्थन मिश्र जी ने दिया है उतना उस युग के किसी अन्य हिन्दी लेखक ने नहीं दिया है। भट्ट जी ने तो उसका विरोध भी किया है। इस सम्बन्ध में हम इतना ही कह सकते हैं कि मिश्र जी का दृष्टिकोण सुधारवादी है। उनकी दृष्टि युग की सीमाओं का अतिक्रमण नहीं करती। उनकी इस सुधारवादी जीवन-दृष्टि के निर्माण में उनके ग्रामीण संस्कार भी कार्य करते रहे हैं।

मिश्र जी के साहित्यिक व्यक्तित्व में सबसे प्रखर और मौलिक उनका निबन्धकार है। इसे हिन्दी के सभी आलोचकों ने एक स्वर से स्वीकार किया है किन्तु उनका कवि व्यक्तित्व छोटा नहीं है। उनके निबन्ध और कविताएँ एक ही मानसिकता को उपज हैं। उनकी कविताओं मे भी वही बातें कही गई हैं जो उनके निबन्धों में है। दोनों में उनके व्यक्तित्व की आभा एक जैसी है। इसीलिए उनके निवन्धों में कविता के और कविताओं में निबन्धों के तत्त्व संश्लिष्ट हैं। कविताओं में देश की दुर्दशा के सामयिक चित्र ही अधिक है किन्तु उन चित्रों के पीछे उनकी दीन-दुःखियों, पद-दलितों और शोषितों के लिए जो गहरी सहानुभूति है वह उन्हें स्थायित्व प्रदान करती है। मिश्र जी के व्यंग्य आज भी उतने ही प्रासंगिक हैं जितने उनके समय में थे। जब तक मानव समाज में दुःख, शोषण, अभाव और अनाचार रहेगा, जब तक मानवता को मानवीय करुणा, स्नेह और ममता की आवश्यकता रहेगी, जब तक हम अत्याचार, अन्याय अनीति और उत्पीड़न के विरुद्ध लेखनी चलाने की आवश्यकता का अनुभव करते रहेंगे तब तक ये कविताएँ प्रासांगिक बनी रहेंगी। मिश्र जी की देश-भक्ति, धार्मिक सहिष्णुता, भाषा-प्रेम, दीन दुखियों और पीड़ितों के प्रति सहानुभूति तथा राष्ट्र को गौरव और गरिमा से मंडित करने

की अदम्य आकांक्षा का महत्त्व सदैव बना रहेगा। व्यक्ति रूप में आज वे हमारे बीच नहीं हैं किन्तु उनका साहित्यिक व्यक्तित्व आज भी हमारा पथ आलोकित कर रहा है। अपने रचना-कर्म को सामान्य जन की भावनाओं का पर्याय बना देने की जो क्षमता मिश्र जी में थी आज भी हमें उसकी प्रतीक्षा है।

परिशिष्ट : एक

प्रताप नारायण मिश्र की रचनाएँ :

काव्य

कानपुर माहात्म्य
तृप्यन्ताम्
तारापति पचीसी
दंगल खण्ड
प्रार्थना शतक
प्रेम पुष्पावली
फाल्गुन माहात्म्य
ब्रैडला स्वागत
मन की लहर
युवराज कुमार स्वागतन्ते
लोकोक्ति शतक
शोकाश्रु
शृंगार विलास
श्री प्रेम पुराण
होली है
दीवाने बरहमन
स्फुट कविताएँ

[उपर्युक्त रचनाओं मे से ''तृप्यन्ताम्'', ''तारापति पचीसी'', ''प्रेम पुष्पावली'', ''ब्रैडला स्वागत'', ''मन की लहर'', ''युवराजकुमार स्वागतन्ते'', ''शोकाश्रु'', ''प्रेम पुराण'' तथा ''होली'' ''प्रताप नारायण मिश्र कवितावली'' में संगृहीत हैं। इनके अतिरिक्त अनेक स्फुट कवितायें भी उसमें सकलित है।]

नाट्य-साहित्य

कलि कोतुक (रूपक)
जुआरी खुआरी (प्रहसन, अपूर्ण)
हठी हमीर

संगीत शाकुन्तल (अभिज्ञान शाकुन्तलम् के आधार पर रचित गीति रूपक)
भारत दुर्दशा (रूपक)
कलि प्रवेश (गीति रूपक)
दूध का दूध, पानी का पानी (भाण, अपूर्ण)

निबन्ध

प्रताप नारायण ग्रंथावली भाग, एक
[इसमें मिश्र जी के लगभग 200 निबन्ध संगृहीत हैं। डॉ. शान्ति प्रकाश वर्मा ने मिश्र जी के संकलित एवं असंकलित कुल 276 निबन्धों की सूची दी है। इनके अतिरिक्त उन्होंने आलोचनात्मक निबन्धों का भी उल्लेख किया है।]

आत्मकथा

प्रताप चरित्र (अपूर्ण) (यह प्रताप नारायण ग्रंथावली भाग एक, मे संकलित है।)

उपन्यास—(अनूदित)

अमरसिंह
इन्दिरा
कपाल कुंडला
देवी चौधरानी
युगलांगुलीय
राजसिंह राधारानी
[सभी उपन्यास प्रसिद्ध बंगला कथाकार बंकिम चन्द्र के उपन्यासों के अनुवाद हैं]

कहानी (अनूदित)

कथा बाल संगीत
कथा माला
चरिताष्टक

संगृहीत रचनाएँ

मानस विनोद (पद्य)
रसखान शतक (पद्य)
रहिमन शतक (पद्य)
सती चरित (गद्य)

ज्ञान का साहित्य

मौलिक

शैव सर्वस्व [यह प्रताप नारायण ग्रंथावली भाग एक, में संगृहीत है।]

सुचाल शिक्षा [यह प्रताप नारायण ग्रंथाल्ली भाग एक में संगृहीत है]
शिशु शिक्षा
पौराणिक गूढ़ार्थ (अपूर्ण) [यह प्रताप नारायण ग्रंथावली भाग एक, में संगृहीत है]
रामायण रमण (अपूर्ण)

अनूदित

इतिहास

सेन राजवंश
सूबे बंगाल का इतिहास
त्रिपुरा का इतिहास

भूगोल

सूबे बंगाल का भूगोल

नीति, शिशु-शिक्षा एवं सामान्य ज्ञान

आर्यकीर्ति (भाग एक, दो)
नीति रत्नावली
पंचामृत
बोधोदय
वर्ण परिचय
शिशु विज्ञान

परिशिष्ट : दो

प्रताप नारायण मिश्र की रचनाओं के कुछ संपादित संग्रह और उन पर लिखी कुछ उल्लेखनीय पुस्तकें तथा लेख।

निबन्ध नवनीत (निबन्ध-संग्रह) अभ्युदय प्रेस, प्रयाग, 1919 ई.

प्रताप पीयूष (निबन्ध और कविताएँ), सं श्री रमाकान्त त्रिपाठी , 1933 ई.

प्रताप समीक्षा (निबन्ध-सग्रह), सं. श्री प्रेम नारायण टण्डन, 1933 ई.

प्रताप नारायण मिश्र (निबन्ध-संग्रह) सं श्री नारायण प्रसाद अरोड़ा और रमाकान्त त्रिपाठी, 1947 ई.

प्रताप लहरी (कविता सग्रह), सं. श्री नारायण प्रसाद अरोड़ा और सत्यभक्त, 1949 ई.

प्रताप नारायण ग्रथावली, भाग एक, (निबन्ध तथा कुछ अन्य गद्य-रचनाए), सं डॉ. विजयशंकर मल्ल, 1957 ई.

प्रताप नारायण मिश्र कवितावली, (कविता-संग्रह) सं. श्री नरेश चन्द्र चतुर्वेदी, 1987 ई.

गद्य-मीमांसा, (समीक्षा) श्री रमाकान्त त्रिपाठी, 1929 ई.

हिन्दी गद्य-शैली का विकास (समीक्षा) डॉ. जगन्नाथ शर्मा, 1930 ई.

भारतेन्दु युग (समीक्षा), डॉ. रामविलास शर्मा, 1951 ई.

पं. प्रताप नारायण मिश्र, जीवन और साहित्य (शोध), डॉ. शान्तिप्रकाश वर्मा, 1964 ई.

प्रताप नारायण मिश्र की हिन्दी गद्य को देन (शोध), डॉ सुरेश चन्द्र शुक्ल, 1970 ई.

भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परम्परा, (समीक्षा) डॉ. रामविलास शर्मा, परिवर्धित संस्करण 1975 ई

बालमुकुन्द गुप्त के श्रेष्ठ निबन्ध, चिट्ठे और खत, सं. ओंकार शरद, 1976 ई. (इसमें श्री गुप्त द्वारा लिखित मिश्र जी की 11 पृष्ठों की जीवनी संगृहीत है जो 1907 ई. में ''भारतमित्र मे प्रकाशित हुई थी।)